कृष्ण की ओर



कृष्णकृपामूर्ति श्री श्रीमद् ए.सी. भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद
संस्थापकाचार्य : अन्तर्राष्ट्रीय कृष्णभावनामृत संघ

कृष्ण की ओर

कृष्णकृपामूर्ति श्री श्रीमद् ए. सी. भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद द्वारा विरचित वैदिक ग्रंथरत्न :

श्रीमद्भगवद्गीता यथारूप
श्रीमद्भागवतम् (१८ भागों में)
श्रीचैतन्य-चरितामृत (९ भागों में)
लीला पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण
भगवान् श्री चैतन्य महाप्रभु का शिक्षामृत
भक्तिरसामृतसिन्धु
श्रीउपदेशामृत
श्रीईशोपनिषद्
भागवत का प्रकाश
अन्य ग्रहों की सुगम यात्रा
आत्म-साक्षात्कार का विज्ञान
कृष्णभावनामृत : सर्वोत्तम योगपद्धति
पूर्ण प्रश्न पूर्ण उत्तर
देवहूतिनन्दन भगवान् कपिल का शिक्षामृत
प्रह्लाद महाराज के दिव्य उपदेश
महारानी कुन्ती की शिक्षाएँ
रसराज श्रीकृष्ण
योगपथ : आधुनिक युग के लिए योग
जीवन का स्रोत जीवन
जन्म-मृत्यु से परे
कृष्ण की ओर
राजविद्या : ज्ञान का राजा
कृष्णभावनामृत की प्राप्ति
कृष्णभावनामृत : एक अनुपम उपहार
भगवद्दर्शन पत्रिका (संस्थापक)

अधिक जानकारी तथा सूचीपत्र के लिए लिखें :
भक्तिवेदान्त बुक ट्रस्ट, ईस्कॉन मंदीर, हरे कृष्ण धाम, जुहू, मुंबई ४०० ०४९.
ये पुस्तकें हरे कृष्ण केन्द्रों पर भी उपलब्ध हैं। कृपया अपने निकटस्थ केन्द्र से सम्पर्क करें।

॥ श्री श्रीगुरु-गौराङ्गौ जयतः ॥

कृष्ण की ओर

कृष्णकृपामूर्ति

श्री श्रीमद् ए. सी. भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद

संस्थापकाचार्य : अन्तर्राष्ट्रीय कृष्णभावनामृत संघ



भक्तिवेदान्त बुक ट्रस्ट

इस ग्रंथ की विषयवस्तु में जिज्ञासु पाठकगण अपने निकटस्थ किसी भी इस्कॉन केन्द्र से अथवा निम्नलिखित पते पर पत्र-व्यवहार करने के लिए आमंत्रित हैं :

भक्तिवेदान्त बुक ट्रस्ट
हरे कृष्ण धाम
जुहू, मुंबई ४०० ०४९

वेब / ई-मेल :
www.indiabbt.com
admin@indiabbt.com

On the Way to Kṛṣṇa (Hindi)

1st printing : 10,000 copies
2nd to 20th printings : 3,99,000 copies
21st printing, March 2013 : 60,000 copies

ISBN: 978-93-82716-50-1

भक्तिवेदान्त बुक ट्रस्ट-मुंबई द्वारा भारत में मुद्रित।

AL3T

अनुक्रमणिका

लेखक-परिचय



कृष्णकृपामूर्ति श्री श्रीमद् ए.सी. भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद ६९ वर्ष की अवस्था में सन १९६५ में अपने गुरु महाराज के आदेशानुसार अंग्रेजी-भाषी विश्व में कृष्णभावनामृत का प्रचार करने के लिए अमेरिका गये। बारह वर्षों की अल्प अवधि में उन्होंने वैदिक साहित्य के अंग्रेजी अनुवाद और भाष्य के रूप में ५० से अधिक ग्रंथरत्न प्रस्तुत किये। उनके द्वारा अंग्रेजी में अनूदित वैदिक ग्रंथ उनकी अधिकृतता, गहराई व स्पष्टता के कारण विद्वत्समाज में सम्मानप्राप्त तथा विश्व के अनेक विश्वविद्यालयों के उच्चस्तरीय पाठ्यक्रमों में मान्यताप्राप्त हैं। इसके साथ ही साथ कृष्णभावनामृत का प्रचार करने हेतु वे सम्पूर्ण विश्व में निरन्तर भ्रमण करते रहे। सन १९६६ में उन्होंने अन्तर्राष्ट्रीय कृष्णभावनामृत संघ की स्थापना न्यूयॉर्क में की। उन्होंने अन्तर्राष्ट्रीय कृष्णभावनामृत संघ को अपने कुशल निर्देशन से सौ से अधिक मन्दिरों, आश्रमों, गुरुकुलों एवं कृषि-समुदायों का एक बृहद् संगठन बना दिया। सन् १९७७ में उन्होंने कृष्ण की प्रिय एवं पावन लीलाभूमि वृन्दावन में लौटकर इस भौतिक जगत से प्रयाण किया। उनके शिष्यगण उनके द्वारा स्थापित आन्दोलन को आगे बढ़ाने में सतत प्रयत्नशील हैं। •

१

सुख का सीधा मार्ग

हममें से प्रत्येक व्यक्ति सुख की खोज में है, किन्तु हम नहीं जानते कि सच्चा सुख क्या है। हम अपने चारों ओर सुख का विज्ञापन तो बहुत देखते हैं, किन्तु प्रत्यक्षतः सुखी लोग हम बहुत ही कम देखते हैं। इसका कारण यह है कि बहुत ही कम लोग यह जानते हैं कि सच्चे सुख की स्थिति नश्वर पदार्थों से परे है। यह वह सच्चा सुख है जिसका विवेचन *भगवद्गीता* में भगवान् कृष्ण ने अर्जुन को समझाया है।

सुख का अनुभव साधारणतया हमारी इन्द्रियों के माध्यम से होता है। उदाहरण के लिए, एक पत्थर के पास कोई इन्द्रिय नहीं है, अतः वह सुख या दुख का अनुभव नहीं कर सकता। विकसित चेतना अविकसित चेतना की अपेक्षा सुख और दुख का अनुभव अधिक गहराई से कर सकती है। वृक्षों में चेतना होती है, किन्तु वह विकसित नहीं होती है। वृक्ष सभी ऋतुओं में दीर्घकाल तक खड़े रह सकते हैं, पर उनके पास दुखानुभव करने का कोई साधन नहीं है। यदि किसी मानव को वृक्ष के समान केवल तीन दिन या इससे भी कम समय तक खड़ा रखा जाये, तो वह यह सहन नहीं कर सकेगा। सारांश यह है कि प्रत्येक चेतन प्राणी सुख-दुख का अनुभव अपनी चेतना के विकास के अनुसार ही करता है।

इस भौतिक संसार में हम जो सुख अनुभव कर रहे हैं, वह सच्चा सुख नहीं है। यदि कोई व्यक्ति किसी वृक्ष से पूछे, "क्या तुम सुखी हो?" तो वृक्ष, यदि बोल सकता, तो कदाचित् यही कहता, "हाँ, मैं

यहाँ वर्षभर खड़े खड़े सुखी हूँ। वायु और हिमपात का बहुत ही आनन्द ले रहा हूँ, आदि आदि।" एक वृक्ष इस प्रकार की स्थिति में आनन्द अनुभव कर सकता है, परन्तु मानव के लिए आनंदानुभव का यह एक अत्यन्त निम्न स्तर है। चेतन प्राणियों के विभिन्न प्रकार और उनकी विभिन्न श्रेणियां हैं, और उनके सुख की परिकल्पनाएँ और अनुभूतियाँ भी विभिन्न प्रकार और श्रेणियों की हैं। यद्यपि एक पशु यह देख सकता है कि दूसरे पशु की हत्या हो रही है तथापि वह घास खाता रहेगा, क्योंकि उसके पास यह समझने की कोई योग्यता नहीं है कि अगली बार वह मारा जा सकता है। वह सोचता है कि मैं सुखी हूँ, पर दूसरे ही क्षण वह मारा जा सकता है।

इस प्रकार सुख की अलग अलग श्रेणियाँ होती हैं, किन्तु इन सब में सर्वोच्च सुख क्या है? श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं:

सुखमात्यन्तिकं यत्तद् बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः॥

"उस परमानन्द की स्थिति (समाधि-अवस्था) में साधक दिव्य इन्द्रियों के द्वारा अनन्त दिव्य सुख का अनुभव करता है। इस प्रकार स्थित हुआ साधक सत्य से कभी विचलित नहीं होता।" (*भगवद्गीता* ६.२१)

यदि कोई मानव सुख प्राप्त करना चाहता है, तो उसे बुद्धिमान होना आवश्यक है। पशुओं के पास वस्तुतः विकसित बुद्धि नहीं होती, इसलिए वे जीवन का ऐसा सुख नहीं ले सकते जैसा मानव ले सकते हैं। एक मृत व्यक्ति के भी हाथ, पैर, आँख, नाक आदि सब इन्द्रियां होती हैं, फिर भी वह आनन्द नहीं लें सकता। ऐसा क्यों? ऐसा इसलिए होता है क्योंकि सुखानुभव करने वाली चेतन शक्ति उस शरीर से लुप्त हो चुकी होती है और शरीर में कोई शक्ति नहीं बची होता। यदि हम थोड़ा बुद्धिपूर्वक इस विषय पर और अधिक विचार करेंगे, तो पायेंगे कि जो

वास्तव में सुख का अनुभव कर रहा था, वह शरीर नहीं था, अपितु उसके भीतर रहने वाली सूक्ष्म चेतना थी। मनुष्य चाहे समझे कि वह शारीरिक इन्द्रियों के माध्यम से सुख उठा रहा है, किन्तु वस्तुतः सुख भोक्ता तो आध्यात्मिक-स्फुलिंग है। उस स्फुलिंग में सदा आनन्दोपभोग करने का सामर्थ्य रहता है, किन्तु भौतिक आवरण के कारण वह सामर्थ्य हमेशा अभिव्यक्त नहीं होता है। हमें पता हो या नहीं, उस चेतन स्फुलिंग की उपस्थिति के बिना शरीर के लिए आनन्द का अनुभव करना असम्भव है। यदि किसी पुरुष को सुन्दर मृत स्त्री का शरीर दिया जाये, तो क्या वह उसे स्वीकार करेगा? कभी नहीं, क्योंकि उस शरीर से आध्यात्मिक-स्फुलिंग बाहर निकल चुका है। पहले आध्यात्मिक-स्फुलिंग उसी स्त्री-शरीर में न केवल आनन्दोपभोग ही कर रहा था, अपितु उस शरीर की देखभाल भी कर रहा था। जब वह आत्म-स्फुलिंग निकल जाता है, तब शरीर नष्ट हो जाता है।

इसका तात्पर्य यह हुआ कि यदि आत्मा आनन्दोपभोग कर रहा है, तो उसकी इन्द्रियाँ भी होनी चाहिए, अन्यथा वह आनन्दोपभोग कर कैसे सकता है? वेद इसकी पुष्टि करते हैं कि यद्यपि आत्मा अणु के समान सूक्ष्म है, तथापि वही वास्तव में आनन्द का भोक्ता है। आत्मा को नापना-तोलना सम्भव नहीं है, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि आत्मा का कोई परिमाण ही नहीं है। जो पदार्थ हमें एक बिन्दु से अधिक न लगे और जिसकी कोई लम्बाई चौड़ाई भी दिखाई न दे, उसे भी यदि हम अणुवीक्षण यंत्र से देखें तो उसमें हमें लम्बाई और चौड़ाई दोनों दिखाई देंगी। इसी प्रकार आत्मा का भी अपना परिमाण होता है, पर हम उसका अनुभव नहीं कर सकते। जब हम काई वस्त्र खरीदते हैं, तो उसे शरीर के अनुरूप बनाया जाता है। आध्यातिमक स्फुलिंग का भी आकार होना चाहिए, अन्यथा यह कैसे हुआ कि उसे धारण करने के लिए भौतिक शरीर का विकास हुआ? निष्कर्ष यह है कि दिव्य आत्मा निर्विशेष नहीं

है। यह यथार्थ में एक व्यक्ति है। ईश्वर एक वास्तविक पुरुष हैं और उनका सूक्ष्म अंश होने के कारण आत्मा भी एक व्यक्तित्व है। यदि पिता में निजी स्वरूप और विशिष्टता है, तो पुत्र में भी ये अवश्य होंगे और यदि पुत्र में ये हैं, तो हम निश्चित रूप से कह सकते हैं कि पिता में भी ये होंगे। अतः यह कैसे हो सकता है कि भगवान् की सन्तान होकर हम अपने स्वरूप और विशिष्टता को तो स्थापित करें और अपने परम पिता भगवान् में उनको नकारें?

'अतीन्द्रियम्' शब्द का अर्थ यह है कि यथार्थ आनन्द या सुख का अनुभव करने के लिए हमें इन भौतिक इन्द्रियों के परे जाना होगा। *"रमन्ते योगिनोऽनन्ते सत्यानन्दचिदात्मनि"*—जो योगी आध्यात्मिक जीवन के अभिलाषी हैं, वे भी अपने अन्तःकरण में स्थित परमात्मा पर चित्त को एकाग्र करके सुखानुभव करते हैं। यदि कोई आनन्द न हो, कोई सुख न हो, तो इन्द्रियों को नियंत्रण में रखने के लिए इतना कष्ट उठाने की क्या आवश्यकता है? इतना कष्ट उठाने में योगीजन किस प्रकार का आनन्दानुभव करते हैं? यह आनन्द अनन्त है। वह कैसे? आत्मा शाश्वत है और परमेश्वर भी शाश्वत हैं, अतः उनमें होने वाला परस्पर प्रेम का आदान-प्रदान भी शाश्वत है। जो मनुष्य वास्तव में बुद्धिमान है, वह अस्थिर, भौतिक शरीर-जवित इन्द्रिय सुख से दूर रहकर अपने सुख को आध्यात्मिक जीवन में स्थित करेगा। परमेश्वर के साथ आध्यात्मिक जीवन में यह सम्मिलन ही रासलीला कहलाता है।

हमने वृन्दावन में गोपियों के साथ श्रीकृष्ण की रासलीला के विषय में प्रायः सुना है। यह लीला भौतिक शरीरधारियों के बीच होने वाली साधारण विनिमय जैसी नहीं है। यह वस्तुतः दिव्य देहों द्वारा व्यक्त होने वाले भावों का विनिमय है। इस रहस्य को समझने के लिए मनुष्य को थोड़ा-सा बुद्धिमान होना आवश्यक है; क्योंकि यथार्थ सुख को न जानने वाला मूर्ख व्यक्ति इस भौतिक जगत में ही सुख खोजता है। भारत

में एक कथा है कि एक व्यक्ति को यह भी नहीं पता था कि गन्ना क्या होता है। उसे केवल इतना बताया गया था कि गन्ना चूसने में बहुत मीठा होता है। उस व्यक्ति ने पूछा, "अरे, गन्ना देखने में कैसा होता है?" तो किसी ने कहा "गन्ना देखने में बाँस के डण्डे के समान होता है।" बस यह सुना ही था कि वह मूर्ख आदमी हर प्रकार के बाँस के डण्डों को चूसने लगा परन्तु इससे उसे गन्ने की मिठास का अनुभव कैसे हो सकता था? इसी प्रकार हम भी सुख और आनन्द प्राप्त करने का प्रयत्न कर रहे हैं, पर हम मूर्खतापूर्वक इस भौतिक शरीर को चूस कर उन्हें प्राप्त करने की कोशिश कर रहे हैं, इसलिए तनिक भी सुख और आनन्द नहीं मिलता। कुछ क्षणों के लिए उसमें अल्प सुख और आनन्द का आभास हो सकता है, परन्तु वह वास्तविक सुख नहीं है क्योंकि वह अस्थायी है। वह आतिशबाजी के खेल जैसा है, जो आकाश में क्षणभर के लिए बिजली की तरह दिखाई दे सकता है, परन्तु वास्तविक बिजली तो इससे परे है। चूँकि साधारण मानव यह नहीं जानता कि सच्चा सुख क्या है, इसलिए वह सच्चे सुख से विचलित हो जाता है।

अपने आप को वास्तविक आनन्द में स्थापित करने की प्रक्रिया यह कृष्णभावनामृत की प्रक्रिया है। कृष्णभावनामृत द्वारा हम शनैः शनैः अपनी वास्तविक बुद्धि का विकास करते हैं और जैसे जैसे हम आध्यात्मिक उन्नति करते हैं, वैसे ही आध्यात्मिक आनन्द का अनुभव सहज रूप से करने लगते हैं। जैसे जैसे हमें इस आध्यात्मिक आनन्द का आस्वाद आने लगता है, वैसे ही हम भौतिक आनन्द को उसी अनुपात में विरक्त होने लगते हैं। जब हम परम सत्य को समझने में प्रगति करते हैं, तो स्वाभाविक रूप से ही हम इस झूठे सुख से विरक्त होने लगते हैं। कोई मानव अगर किसी न किसी प्रकार कृष्णभावनामृत की उस स्थिति पर पहुँच जाता है, तब परिणाम क्या होता है?

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।
यस्मिन् स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते॥

"इस सुख को प्राप्त करके साधक फिर किसी और सुख को बड़ा नहीं समझता है। उस स्थिति में स्थिर होने पर वह बड़े से बड़े दुख में भी विचलित नहीं होता। (*भगवद्गीता* ६.२२)

जब मनुष्य ऐसे स्तर पर पहुँच जाता है, तब उसे अन्य उपलब्धियाँ तुच्छ प्रतीत होने लगती हैं। इस भौतिक जगत में हम धन, स्त्रियाँ, यश, सौन्दर्य, ज्ञान आदि बहुत से पदार्थ प्राप्त करने का यत्न कर रहे हैं किन्तु जैसे ही हम कृष्णभावनामृत में स्थित हो जाते हैं, वैसे ही तुरन्त हम सोचते हैं, "ओह! दूसरी कोई भी उपलब्धि इससे बढ़कर नहीं है।" कृष्णभावनामृत इतना शक्तिशाली है कि इसका अति अल्प अनुभव भी मनुष्य की महानतम संकट से रक्षा कर सकता है। ज्योंही कोई मनुष्य कृष्णभावनामृत का आस्वादन करना प्रारम्भ करता है, त्योंही वह अन्य तथाकथित सुखों और लाभों को निरर्थक और नीरस समझने लगता है। और यदि कोई कृष्णभावनामृत में दृढ़ता से स्थित है, तो उसे बड़े से बड़ा संकट भी उद्विग्न नहीं कर सकता। जीवन में बहुत से संकट हैं क्योंकि यह भौतिक जगत संकटों का घर ही है। किन्तु हम इस ओर से आंखे मूंद लेते हैं और मूर्खतावश हम इन संकटों के साथ समझौते का प्रयत्न भी करते है। हमारे जीवन में संकट के अनेक क्षण आ सकते हैं, किन्तु यदि हम कृष्णभावनामृत का अभ्यास करते हुए भगवद्धाम लौटने की तैयारी करें, तो हमें संकटों की चिन्ता नहीं रहेगी। उस समय हमारी मनः स्थिति यह होगी, "संकट तो आते जाते ही रहते हैं; कोई चिन्ता नहीं, उन्हें आने दो।" जब तक मनुष्य भौतिक धरातल पर रहता है और अपनी पहचान नश्वर भौतिक तत्त्वों से निर्मित स्थूल शरीर के साथ करता है, तब तक ऐसा समझौता कर पाना बड़ा कठिन है। किन्तु मनुष्य कृष्णभावनामृत में जितनी अधिक प्रगति करता है, वह शारीरिक

उपाधियों और भौतिक बन्धनों से उतना ही अधिक मुक्त होता चला जाता है।

श्रीमद्भागवत में इस भौतिक जगत की तुलना एक महासागर से की गई है। इस भौतिक ब्रह्मांड के अंतरिक्ष में लाखों-करोड़ों ग्रह-नक्षत्र तैर रहे हैं और हम यह कल्पना कर सकते हैं कि इसमें कितने आन्ध्र (एटलांटिक) और प्रशान्त महासागर होंगे। वास्तव में यह सारा भौतिक ब्रह्माण्ड जन्म, मृत्यु और दुखों के एक महासागर की तरह ही है। इस अज्ञान के महासागर को पार करने के लिए एक सुदृढ़ नौका की आवश्यकता है और वह सुदृढ़ नौका है—श्रीकृष्ण के चरणकमल। हमें इस नौका पर तुरन्त आरूढ़ हो जाना चाहिए। हमें यह सोचकर संकोच नहीं करना चाहिए कि श्रीकृष्ण के चरण तो बहुत छोटे हैं। वास्तव में समस्त ब्रह्माण्ड उनके चरणों पर ही टिका हुआ है। कहा जाता है कि श्रीकृष्ण के चरणकमलों में शरणागत मनुष्य के लिए यह भौतिक ब्रह्माण्ड, गाय के बछड़े के खुर-चिह्न में भरे जल से अधिक नहीं रहता। ऐसे छोटे से गो-खुर को पार करना निश्चित रूप से कठिन नहीं है।

तं विद्याद्दु:खसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम्।

"यही भौतिक संयोग से उत्पन्न हुए समस्त क्लेशों से वास्तविक मुक्ति है।" (*भगवद्गीता* ६.२३)

हम इस भौतिक जगत में असंयमित इन्द्रियों के कारण ही फँसे हुए हैं। योग प्रक्रिया का लक्ष्य इन इन्द्रियों का संयम करना है। यदि किसी प्रकार हम इन्द्रियों का संयम कर सकें, तो हम वास्तविक आध्यात्मिक आनन्द की ओर उन्मुख हो सकते हैं और अपना जीवन सफल बना सकते हैं।

स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्ण चेतसा।
संकल्प प्रभवान्कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषत: ॥

मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः।
शनैः शनैरुपरमेद् बुद्ध्या धृति-गृहीतया॥
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत्।
यतोयतो निश्चलति मनश्चञ्चलम् अस्थिरम्॥
ततस्ततो नियम्यैतद् आत्मन्येव वशं नयेत्॥

"साधक पुरुष को अविचल दृढ़ता और विश्वास के साथ योगाभ्यास करना चाहिए। उसे मिथ्या अहंकार से उत्पन्न समस्त भौतिक इच्छाओं को त्याग देना चाहिए और मन के द्वारा सब ओर से इन्द्रियों का संयम करना चाहिए। इस प्रकार साधक को धीरे-धीरे क्रमशः पूर्ण विश्वास के साथ, बुद्धि द्वारा समाधि में स्थिर रहना चाहिए और अन्य किसी का भी चिन्तन न करते हुए मन को आत्मा पर स्थिर करना चाहिए। यह चंचल और अस्थिर मन जहाँ-जहाँ भी चलायमान् हो, वहाँ-वहाँ से इसको निश्चित रूप से हटा कर अपने वश में करना चाहिए।"

मन सदा अस्थिर रहता है; यह कभी इधर जाता है, तो कभी उधर। योगाभ्यास से हम मन को यथार्थ रूप में कृष्णभावनामृत की ओर खींचते हैं। किन्तु मन कृष्णभावनामृत से अनेक बाह्य विषयों की ओर दौड़ता है, क्योंकि अनादि काल से और जन्म-जन्मांतर से इसकी यही प्रवृत्ति रही है। फलतः साधक को प्रारम्भ में अपने मन को कृष्णभावनामृत की ओर उन्मुख करने में बड़ी कठिनाई हो सकती है, पर इन सभी कठिनाइयों पर विजय पाई जा सकती है।

क्योंकि मन अशान्त है और श्रीकृष्ण की ओर उन्मुख नहीं है, अतः यह एक विचार से दूसरे विचार में चला जाता है। उदाहरण के लिए, जब हम किसी काम में लगे होते हैं, तो मन में अचानक ऐसी घटनाओं की स्मृति बिना किसी प्रत्यक्ष कारण के जागृत हो उठती है जो दस, बीस, तीस या चालीस वर्ष पहले घटित हुई थीं। ये विचार हमारे उपचेतन मन से ही आते हैं और क्योंकि ये विचार निरन्तर उठते रहते

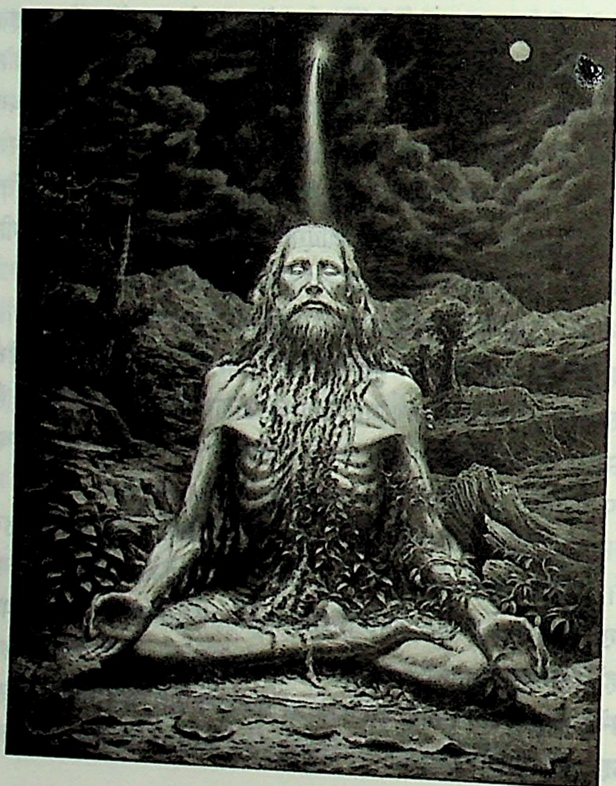
हैं, इसलिए मन सदा अशान्त रहता है। यदि हम किसी झील या तालाब के पानी को हिलायें, तो उसके तल से सारी मिट्टी ऊपर आ जायेगी। इसी प्रकार जब मन अशान्त होता है, तो उपचेतन मन से अनेक विचार उठ खड़े होते हैं, जो उसमें वर्षों से संचित हुए रहते हैं। 'यदि हम तालाब को आन्दोलित न करें, तो मिट्टी तल में बैठ जायेगी। योग की यह प्रक्रिया मन को शांत करके इन सभी विचारों को स्थिर करने के लिए है। इसलिए मन को उद्विग्न और अशान्त होने से रोकने के लिए अनेक यम-नियम हैं। यदि इनका पालन किया जाये तो मन शनैः शनैः वश में आ जाएगा। यदि कोई वास्तव में मन को वश में करना चाहता है, तो उसे अनेक प्रकार के विधि-निषेधों का पालन करना होगा। कोई यदि केवल स्वेच्छा से कार्य करे, तो मन को संयमित करने की क्या सम्भावना रहेगी ? जब मन अन्ततः उस बिन्दु तक प्रशिक्षित कर लिया जाता है, जहाँ वह श्रीकृष्ण के अतिरिक्त किसी और विषय का चिंतन नहीं करता, तब वह निश्चल हो जाएगा और उसे शांति प्राप्त हो जाएगी।

प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम्।
उपैतिशान्त-रजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम्॥

"जिस योगी का मन मुझ में स्थिर रहता है, वह निश्चय ही सर्वोच्च सुख को प्राप्त करता है। वह ब्रह्मभूत होकर जीवन्मुक्त हो जाता है, उसका मन शान्त हो जाता है, उसके मनोवेग स्थिर हो जाते हैं और वह पाप से मुक्ति पा लेता है।" (*भगवद्गीता* ६.२७)

मनुष्य का मन निरन्तर सुख के पदार्थों के लिए योजना बनाता रहता है। वह सदा यही सोचता रहता है, "मुझे यह सुखी बना" देगा या "वह सुखी बना देगा।" सुख यहाँ है, सुख वहाँ है।" इस प्रकार मन हमें यहाँ वहाँ भटकाता रहता है। यह अनियन्त्रित घोड़े से युक्त रथ पर आरूढ़ होने जैसा ही है। हमारा इस बात पर कोई नियंत्रण नहीं होता कि हम कहाँ जा रहे हैं। हम तो बस भयभीत हुए बैठे ही रह सकते हैं और

निस्सहाय हो कर देखते ही रह सकते हैं। किन्तु ज्योंही मन कृष्णभावनामृत की प्रक्रिया में लग जाता है—विशेष रुप से 'हरे कृष्ण, हरे कृष्ण, कृष्ण कृष्ण, हरे हरे। हरे राम, हरे राम, राम राम, हरे हरे' के कीर्तन द्वारा, त्योंही मन के अनियंत्रित घोड़े हमारे वश में आ जाएँगे। हमें अपने जीवन के प्रत्येक क्षण को कृष्ण की सेवा में लगा देना चाहिए, जिससे यह उद्विग्न और अशान्त मन हमें व्यर्थ ही इस नाशवान् भौतिक जगत में सुख की खोज में एक पदार्थ से दूसरे पदार्थ की ओर खींच न ले जाये।



युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी विगतकल्मषः।
सुखेन ब्रह्म संस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते॥

"समस्त भौतिक पापों से मुक्त होकर आत्मा में स्थित हुआ योगी परम चेतना में रहकर आनन्द की चरम स्थिति को प्राप्त कर लेता है।"(*भगवद्गीता* ६.२८)

श्रीकृष्ण अपनी शरण में आये हुए भक्त के लिए सब प्रकार से आश्रयदाता बन जाते हैं। जब मनुष्य कठिनाई में होता है, तो उसका संरक्षक उसकी रक्षा करता है। *भगवद्गीता* में कहा गया है कि श्रीकृष्ण प्रत्येक प्राणी के सच्चे सुहृद् हैं और हमें तो केवल उनसे अपनी इस मैत्री को पुनर्जाग्रित करना होता है। इस मैत्री को पुनः जाग्रित करने का तरीका है, कृष्णभावनामृत की प्रक्रिया। कृष्णभावनामृत के अभ्यास द्वारा भौतिक सुखों की अन्धी कामना शान्त हो जायेगी। यह अन्धी आसक्ति ही हमें कृष्ण से दूर किये हुए है। श्रीकृष्ण हमारे हृदय में निरन्तर विराजमान हैं, और वे अपनी ओर उन्मुख होने के लिए हमारी प्रतीक्षा कर रहे हैं। परन्तु दुर्भाग्यवश हम भौतिक इच्छाओं के पेड़ के फल खाने में अतिशय लीन हैं। भौतिक सुखों को भोगने की यह तामसी विवशता समाप्त होनी चाहिए और हमें अपनी वास्तविक पहचान ब्रह्म, याने शुद्ध आत्मा में स्थित होना चाहिए।•

२

कृष्ण-संकीर्तन और कृष्ण को जानने की विधि

हरे कृष्ण, हरे कृष्ण, कृष्ण कृष्ण, हरे हरे।
हरे राम, हरे राम, राम राम, हरे हरे॥

यह दिव्य ध्वनि-तरंग है। हमारे मनरूपी दर्पण पर पड़ी हुई धूल को हटाने में यह सहायक होगी। इस समय हमने अपने मनरूपी दर्पण पर सांसारिकता की इतनी धूल चढ़ा रखी है, जैसे न्यूयार्क नगर के सेकण्ड एवेन्यू में अत्यधिक यातायात के कारण प्रत्येक वस्तु पर धूल और कालिख जम जाती है। हमने भौतिक कार्यकलापों में जोड़तोड़ करके अपने मन रूपी स्वच्छ दर्पण पर इतनी धूल संचित कर ली है कि उसके कारण हमें अब कुछ भी ठीक-ठीक नहीं दिखाई देता। हरे कृष्ण मन्त्र का यह दिव्य शब्द-स्पन्दन हमारे मन-दर्पण से यह धूल हटाकर हमें अपने वास्तविक स्वरूप का दर्शन करने की क्षमता प्रदान करेगा। ज्योंही हमें यह बोध होगा कि, "मैं यह शरीर नहीं हूँ, मैं आत्मा हूँ और चैतन्य ही मेरा स्वरूप-लक्षण है," त्योंही हम सच्चे सुख में स्थापित हो सकेंगे। जैसे जैसे हरे कृष्ण मन्त्र के संकीर्तन से हमारी चेतना शुद्ध होती जायेगी, वैसे वैसे ही हमारे सारे भौतिक दुख लुप्त होते जाएँगे। इस भौतिक जगत में सदा दुखो की ज्वाला उठती रहती है और प्रत्येक प्राणी उसे बुझाने की चेष्टा कर रहा है। किन्तु भौतिक दुखों की इस ज्वाला के बुझने की तब तक कोई सम्भावना नहीं है, जब तक हम अपने आध्यात्मिक जीवन में—शुद्ध चेतना में स्थित नहीं हो जाते।

इस भौतिक जगत में भगवान् श्रीकृष्ण के अवतार का एक उद्देश्य था—धर्म-संस्थापना के द्वारा समस्त प्राणियों के सांसारिक क्लेशों की ज्वाला को बुझाना।

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानम् अधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे॥

"हे अर्जुन, जब जब और जहाँ जहाँ धर्म की हानि और अधर्म की वृद्धि होती है, तब तब मैं अवतरित होता हूँ। साधु सज्जन पुरुषों की रक्षा, दुष्ट-दुर्जनों के विनाश और धर्म की पुनः संस्थापना के लिए मैं प्रत्येक युग में अवतरित होता हूँ। (*भगवद्गीता* ४.७-८)

इन श्लोकों में 'धर्म' शब्द प्रयुक्त हुआ है। इस शब्द का अंग्रेजी भाषा में विभिन्न प्रकार से रुपान्तर हुआ है। कभी कभी इस शब्द का अनुवाद 'फेथ' अर्थात् विश्वास के रूप में किया जाता है। किन्तु वैदिक साहित्य के मतानुसार 'धर्म' एक विश्वास-मात्र नहीं है। विश्वास बदल सकता है, किन्तु धर्म नहीं बदला जा सकता। जल की तरलता को नहीं बदला जा सकता। वह उसका स्वरूपभूत धर्म है। उदाहरण के लिए, यदि जल बर्फ के रूप में ठोस बन जाता है, तो वस्तुतः वह अपने मूल स्वरूप में नहीं रहता। वह किन्ही विशेष परिस्थितियों में उस दशा में रहता है। हमारा धर्म अथवा हमारा मूलभूत स्वरूप यह है कि हम परमब्रह्म के अंश हैं। और ऐसा होने के कारण हमें अपनी चेतना को परम के अनुकूल या उनके अधीन बनाना होगा।

परम पूर्ण के प्रति हमारे इस दिव्य सेवा-भाव का भौतिक सम्पर्क के कारण दुरुपयोग हो रहा है। हमारे मूल स्वरूप में सेवा-भाव अनिवार्य रूप से निहित है। प्रत्येक मनुष्य सेवक है और स्वामी कोई नहीं। प्रयेक व्यक्ति किसी न किसी की सेवा कर रहा है। यद्यपि राष्ट्रपति देश का

प्रमुख कार्यकारी अध्यक्ष है, तथापि वह देश की सेवा कर रहा है, और जब उसकी सेवाओं की आवश्यकता नहीं रहती, तो देश उसको अवकाश दे देता है। अपने आप में यह समझना कि 'मैं सब का स्वामी हूँ,' माया कहलाता है। इस प्रकार देहात्म-बुद्धि के कारण हमारी सेवा-वृत्ति का विभिन्न उपाधियों में दुरुपयोग किया जा रहा है। जब हम इन उपाधियों से मुक्त हो सकते हैं, अर्थात् जब हमारे मनरुपी दर्पण से अज्ञान की धूल हट जायेगी, तब हम अपने आपको कृष्ण के शाश्वत सेवक के अपने मूलस्वरूप में देख सकेंगे।

मनुष्य को यह नहीं समझना चाहिए कि भौतिक जगत में और आध्यात्मिक वातावरण में उसकी सेवायें एकसी होंगी। हमें यह सोचने में कदाचित् संकोच होगा कि, "क्या मुक्त हो जाने के उपरान्त भी मैं सेवक ही रहूँगा?" ऐसा इसलिए है क्योंकि भौतिक जगत में सेवक होने का हमारा अनुभव बहुत सुखमय नहीं रहा है; किन्तु दिव्य-सेवा ऐसी नहीं होती है। आध्यात्मिक जगत में सेवक और स्वामी में कोई अन्तर नहीं होता है, जबकि भौतिक जगत में इन में अन्तर है। दिव्य जगत में हर चीज एक सी होती है। उदाहरण के लिए, *भगवद्गीता* के प्रसंग में हम देखते हैं कि श्रीकृष्ण ने अर्जुन के सारथी रूप में एक सेवक की स्थिति ग्रहण की है। अपनी वैधानिक स्थिति में अर्जुन कृष्ण का सेवक है, किन्तु व्यवहार में हम देख सकते हैं कि कभी-कभी भगवान् सेवक के भी सेवक बन जाते हैं। इसलिए हमें ध्यान रखना चाहिए कि हम अपने लौकिक विचार आध्यात्मिक क्षेत्र में न ले जाँए। भौतिक रूप में हमने जो अनुभव किया है, वह आध्यात्मिक जगत के जीवन का विकृत प्रतिबिम्ब ही है।

जब हमारा मूलस्वरूप या धर्म, भौतिक पदार्थ के दोषों से अधोगति को प्राप्त हो जाता है, तो भगवान् स्वयं अवतार के रूप में आते हैं या अपने किसी अत्यन्त विश्वसनीय सेवक को भेजते हैं। ईसामसीह अपने

आपको ईश्वर का पुत्र कहते थे, इसलिए वे परम के प्रतिनिधि हैं। इसी प्रकार मुहम्मद ने अपने आपको परमेश्वर का एक सेवक कहा है। इस प्रकार हमारे मूल-स्वरूप या धर्म में जब भी कोई दोष आता है, तब हमें वास्तविक स्थिति बताने के लिए या तो श्रीभगवान् स्वयं अवतरित होते हैं या अपने किसी प्रतिनिधि को भेजते हैं।

इसलिए किसी को भी इस भ्रम में नहीं रहना चाहिए कि 'धर्म' कोई कल्पित या निर्मित 'विश्वास' मात्र है। अपने वास्तविक अर्थ में 'धर्म' जीव से कभी भी पृथक् नहीं किया जा सकता। उसके साथ धर्म का सम्बन्ध ऐसा ही है, जैसे शक्कर के साथ मिठास का, नमक के साथ खारेपन का या पत्थर के साथ ठोसपन का। यह सम्बन्ध किसी भी प्रकार से दूर नहीं किया जा सकता। जीव का धर्म सेवा करना है और हम स्पष्ट देख सकते हैं कि प्रत्येक जीव की वृत्ति अपनी या दूसरों की सेवा करने की होती है। श्रीकृष्ण की सेवा कैसे की जाये, भौतिक दासता से अपने आप को कैसे मुक्त किया जाये, कृष्णभावनामृत कैसे प्राप्त किया जाये और भौतिक उपाधियों से कैसे छूटा जाये, ये सब बातें भगवान् श्रीकृष्ण ने *भगवद्‌गीता* में वैज्ञानिक विधि से समझाई हैं।

परित्राणाय साधूनाम् श्लोक में आया हुआ 'साधु' शब्द पवित्राचारण से युक्त सज्जन व्यक्ति का या संत पुरुष का बोध कराता है। संत पुरुष क्षमाशील, प्रत्येक के प्रति अत्यन्त दयालु, समस्त प्राणियों का मित्र, किसी का भी शत्रु नहीं और सदा शान्त-चित्त होता है। एक सदाचारी पुरुष के छब्बीस गुण होते हैं, और *भगवद्‌गीता* में श्रीकृष्ण ने स्वयं निम्नलिखित घोषणा की है—

अपिचेत् सुदुराचारो भजते माम् अनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥

"यदि कोई व्यक्ति जघन्य से जघन्य कर्म करता है, किन्तु यदि वह भक्ति में रत रहता है, तो उसे साधु ही समझना चाहिए, क्योंकि वह

अपने संकल्प में अडिग रहता है। *(भगवद्गीता ९.३०)*

भौतिक धरातल पर एक व्यक्ति के लिए जो नैतिकता है, दूसरे के लिए वही अनैतिकता है और जो एक व्यक्ति के लिए अनैतिकता है, वही दूसरे के लिए नैतिकता है। हिन्दू विचार-धारा के अनुसार मदिरा पान एक अनैतिक कर्म है, जबकि पाश्चात्य जगत में यह एक सामान्य बात है और वहाँ उसे अनैतिक नहीं माना जाता। अतः नैतिकता समय, स्थान, परिस्थिति, सामाजिक स्थिति, आदि पर निर्भर है। किन्तु प्रत्येक समाज में नैतिकता और अनैतिकता की कुछ न कुछ धारणा अवश्य होती है। उपर्युक्त श्लोक में श्रीकृष्ण कहते हैं कि चाहे कोई व्यक्ति दुराचारी ही क्यों न हो, किन्तु यदि वह कृष्णभावना में स्थित है, तो उसे साधु ही मानना चाहिए। दूसरे शब्दों में, पूर्व संस्कार के कारण यदि किसी में कुछ अनैतिक प्रवृत्तियाँ हों भी, पर यदि वह पूर्णतया कृष्णभावनामृत में स्थित है, तो इन दुष्प्रवृत्तियों को महत्त्व नहीं दिया जाना चाहिए। जो कुछ भी स्थिति हो, यदि कोई कृष्णभावनाभावित हो जाये, तो वह धीरे धीरे शुद्ध हो जाएगा और 'साधु' बन जाएगा। ज्यों-ही कोई व्यक्ति कृष्णभावनामृत की ओर अग्रसर होता है, उसकी दुष्प्रवृत्तियाँ कम होने लगती हैं और वह साधुता की पूर्णता को प्राप्त हो जाता है।

इस के सम्बन्ध में एक चोर की कहानी आती है जो किसी पवित्र तीर्थस्थान की यात्रा पर गया। मार्ग में वह अन्य तीर्थयात्रियों के साथ रात्रि विश्राम के लिए एक धर्मशाला में ठहरा। चोरी करने का अभ्यस्त होने के कारण वह अन्य यात्रियों के सामान की चोरी करने की योजना बनाने लगा। किन्तु फिर उसने सोचा कि, "मैं तीर्थ यात्रा के लिए जा रहा हूँ, अतः यह ठीक नहीं होगा कि मैं यात्रियों का सामान चुराऊँ। मैं ऐसा नहीं करूंगा।" इस पर भी अपनी सहज वृत्ति के कारण वह अपने हाथों को वश में नहीं रख सका। अतः उसने एक यात्री का सामान

लिया और उसे दूसरे स्थान पर रख दिया; इसी तरह दूसरे यात्री का सामान उठाया और उसे कहीं और रख दिया। वह रात भर विभिन्न सामान को विभिन्न स्थानों पर रखता-उठाता रहा, किन्तु अन्तरात्मा द्वारा धिक्कारे जाने के कारण वह उस सामान में से कुछ भी नहीं ले सका। प्रातः काल जब अन्य यात्री जागे, तो उन्होंने चारों ओर अपने अपने सामान को ढूँढना शुरू किया किन्तु उन्हें अपना सामान नहीं मिला। इसलिए वहाँ बड़ा कोलाहल मच गया। और अन्त में एक-एक करके उन्हें विभिन्न स्थानों से अपना अपना सामान मिलने लगा। जब सब को अपना अपना सामान मिल गया, तो चोर ने सही बात बताई। "सज्जनों, मैं व्यवसाय से एक चोर हूं। रात को चोरी करने की मेरी आदत हो गयी है। आपके थैलों में से मैं कुछ चुराना चाहता था, किन्तु मैने सोचा कि चूँकि मैं एक पवित्र तीर्थ स्थान को जा रहा हूँ, अतः चोरी करना असम्भव है। इसलिए मैंने आप लोगों का सामान इधर से उधर तो कर दिया है पर चुराया कुछ नहीं है। कृपया मुझे क्षमा करें।" चोर की इस कहानी का उद्देश्य दुष्प्रवृत्ति का स्वरूप दिखाना है। यद्यपि चोर अब चोरी नहीं करना चाहता, तथापि पुरानी आदत के कारण कभी कभी ऐसा कर बैठता है। इसलिए कृष्ण कहते हैं जिसने अपनी दुष्प्रवृत्ति से दूर रहकर कृष्णभावनामृत की ओर अग्रसर होने का निश्चय कर लिया है, उसे साधु ही समझना चाहिए, चाहे पुरानी आदत के कारण या संयोगवश वह कभी कभी अपनी असत् प्रवृत्तियों के सामने झुक जाता हो। अगले श्लोक में श्रीकृष्ण कहते हैं:

क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥

"वह शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है और स्थायी शान्ति प्राप्त करता है। हे कुन्तीपुत्र! निडर होकर घोषणा कर दो कि मेरा भक्त कभी नष्ट नहीं होता।" (*भगवद्गीता* ९.३१)

क्योंकि उस व्यक्ति ने अपने आपको कृष्णभावनामृत में समर्पित किया है, इसीलिए श्रीकृष्ण यहाँ घोषणा करते हैं कि वह शीघ्र ही सदाचारी हो जाएगा। जैसे बिजली के पंखे का तार निकाल देने पर भी पंखा कुछ देर तक चलता रहता है, किन्तु यह निश्चित है कि पंखा थोड़ी देर में अवश्य रुक जायेगा। ज्योंही हम श्रीकृष्ण के चरणकमलों की शरण ले लेते हैं, त्योंही हम अपने सकाम कर्मों का बटन बंद कर देते हैं और यद्यपि ये कर्म कुछ समय तक चलते रहते हैं तथापि यह निश्चित है कि वे शीघ्र समाप्त हो जायेंगे। यह नितान्त सत्य है कि जो कोई भी कृष्णभावनामृत का आश्रय लेता है, उसे सदाचारी बनने के लिए पृथक् रूप से कोई परिश्रम नहीं करना पड़ता। उसमें समस्त सद्गुण स्वतः आ जाएँगे । *श्रीमद्भागवतम्* में कहा गया है कि जो व्यक्ति कृष्णभावनामृत को प्राप्त हो जाता है, वह साथ में सब सद्गुण भी प्राप्त कर लेता है। इसके विपरीत अगर व्यक्ति ईश्वरभावना से रहित है, तो उसमें चाहे जो भी उत्तम गुण हों, वे सब व्यर्थ हैं, क्योंकि उसे अवांछित कर्मों को करने से किसी प्रकार रोका नहीं जा सकेगा। अगर कोई व्यक्ति कृष्णभावनामृत से रहित है, तो वह इस भौतिक जगत में दुष्कृत्य किये बिना नहीं रह सकेगा, यह निश्चित है।

जन्म कर्म च मे दिव्यम् एवं यो वेत्ति तत्त्वतः ।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन ॥

"हे अर्जुन! जो व्यक्ति मेरे जन्म और कर्मों के दिव्य भाव को वस्तुतः जान लेता है, वह देह-त्याग करने के उपरान्त फिर इस भौतिक जगत में जन्म नहीं लेता, अपितु मेरे सनातन धाम को प्राप्त करता है।" (*भगवद्गीता* ४.९)

श्रीकृष्ण का अवतार जिस उद्देश्य से होता है, वह यहाँ और भी स्पष्ट किया गया है। जब श्रीकृष्ण किसी विशेष उद्देश्य की पूर्ति के लिए आते हैं, तो वे कुछ विशेष कर्म भी करते हैं। निस्सन्देह, कतिपय

दार्शनिक यह नहीं मानते कि भगवान् स्वयं अवतार के रूप में आते हैं। वे कहते हैं, "इस निकृष्ट संसार में भगवान् क्यों आने लगे?" किन्तु *भगवद्गीता* से हमें कुछ और ही पता चलता है। हमें यह सदा स्मरण रखना चाहिये कि हम *भगवद्गीता* को एक शास्त्र के रूप में पढ़ते हैं, अत: गीता में जो कुछ भी कहा गया है, उसे मानना ही चाहिए। अन्यथा गीता पढ़ने का कोई अर्थ नहीं है। गीता में कृष्ण कहते हैं कि वे संसार में एक विशेष उद्देश्य से अवतरित होते हैं और उसकी पूर्ति के लिए वे कुछ विशेष कार्य भी करते हैं। उदाहरणार्थ, हम देखते हैं कि कृष्ण अर्जुन के सारथी बनते हैं और कुरुक्षेत्र की युद्धभूमि पर अनेक कार्यों में संलग्न होते हैं। जैसे जब युद्ध छिड़ता है, तो कोई व्यक्ति या राष्ट्र किसी दूसरे व्यक्ति या राष्ट्र के पक्ष का समर्थन करता है और पक्षपात दिखाता है, उसी प्रकार यहाँ कृष्ण भी युद्धभूमि में अर्जुन के पक्ष का समर्थन करते हैं। वास्तव में श्रीकृष्ण किसी का पक्षपात नहीं करते किन्तु बाहर से ऐसा लगता है कि वे पक्षपात करते हैं। हमें इस पक्षपात को साधारण दृष्टि से नहीं देखना चाहिए।

इस श्लोक में श्रीकृष्ण यह भी स्पष्ट करते हैं कि इस भौतिक संसार में उनका अवतरण दिव्य है। *दिव्यम्* शब्द का अर्थ है, अलौकिक। उनके कर्म किसी भी प्रकार से साधारण नहीं हैं। आज भी समस्त भारतवासी, सम्प्रदाय के किसी भेदभाव के बिना, भाद्रपद मास के कृष्ण पक्ष की अष्टमी को वैसे ही श्रीकृष्ण का जन्म-दिवस मनाते हैं, जैसे पाश्चात्य जगत में क्रिसमस के दिन ईसा मसीह का जन्म दिवस मनाया जाता है। श्रीकृष्ण का जन्म-दिवस 'जन्माष्टमी' कहलाता है, और इस श्लोक में श्रीकृष्ण 'अपने जन्म' के विषय में 'जन्म' शब्द का प्रयोग करते हैं। जब 'जन्म' होता है, तो उसके साथ कुछ कर्म भी होते हैं। कृष्ण के जन्म और कर्म 'दिव्य' हैं, जिसका अर्थ है कि वे साधारण मनुष्यों के जन्म और कर्मों के समान नहीं हैं। यहाँ कोई यह प्रश्न कर

सकता है कि श्रीकृष्ण के कर्म दिव्य क्यों हैं ? वे भी जन्म लेते हैं, युद्ध में अर्जुन का पक्ष ले रहे हैं। उनके 'वसुदेव' नामक पिता और 'देवकी' नामक माता व एक परिवार है। इसमें दिव्यता क्या है ? किन्तु श्रीकृष्ण कहते हैं, *एवं यो वेत्ति तत्त्वतः*—कृष्ण के जन्म और कर्म को तत्त्व से जानना आवश्यक है। जब व्यक्ति श्रीकृष्ण के जन्म व कर्म को सही ढंग से जान लेता है, तो परिणाम यह होता है—*'त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन*—अर्थात् 'हे अर्जुन! वह व्यक्ति देह-त्याग करने के उपरान्त फिर इस भौतिक जगत में जन्म ग्रहण नहीं करता वरन् सीधे मुझे ही प्राप्त करता है। इसका अर्थ यह हुआ कि वह एक मुक्तात्मा हो जाता है और शाश्वत आध्यात्मिक जगत में प्रविष्ट होकर अपने मूल सच्चिदानन्द स्वरूप को प्राप्त कर लेता है। ऐसा केवल तभी हो सकता है, जब हम श्रीकृष्ण के जन्म तथा कर्म की दिव्य प्रकृति को तत्त्व से समझ लें।

साधारणतया जब कोई व्यक्ति अपना देहत्याग कर देता है, तो उसे दूसरी देह धारण करनी पड़ती है। देहधारी जीव अपने कर्मों के अनुसार निरन्तर जन्म-मृत्यु के द्वारा एक देह का त्याग करके और दूसरी देह धारण करके—आत्मा का देहान्तरण—अपना वेष परिवर्तन करते रहते हैं। इस समय हम सोच सकते हैं कि यह वर्तमान भौतिक देह हमारा वास्तविक शरीर है, किन्तु यह तो एक पोशाक के समान है। वास्तव में हमारा वास्तविक शरीर भी होता है, और वह है हमारा आध्यात्मिक शरीर। जीव का यह स्थूल भौतिक शरीर उस असली सूक्ष्म आध्यात्मिक शरीर के सामने केवल ऊपरी दिखावा है। जब यह भौतिक शरीर वृद्ध और जीर्ण-शीर्ण हो जाता है या किसी दुर्घटना के कारण अशक्त हो जाता है, तो हम उस शरीर को एक मैले या फटे पुराने वस्त्र की भाँति एक ओर छोड़कर दूसरे भौतिक शरीर को ग्रहण कर लेते हैं—

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्य-
न्यानि संयाति नवानि देही॥

"जैसे कोई पुराने वस्त्रों का त्याग करके नये वस्त्र धारण करता है, उसी प्रकार यह आत्मा भी पुराने शरीरों को त्याग कर नये भौतिक शरीरों में चला जाता हैं।" (*भगवद्गीता* २.२२)

प्रारम्भ में जीव का शरीर एक मटर के दाने जितना होता है। फिर वह क्रमशः शिशु, बालक, किशोर, तरुण, प्रौढ़ और वृद्ध होता हुआ अन्त में अशक्त और व्यर्थ होकर दूसरा शरीर बदल लेता है। अतः शरीर निरन्तर परिवर्तित होता रहता है और मृत्यु तो हमारे वर्तमान शरीर का अंतिम परिवर्तन मात्र ही है।

देहिनोऽस्मिन् यथा देहे कौमारं यौवनं जरा।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति॥

"जैसे देहधारी जीवात्मा को इस शरीर में क्रमशः कुमारावस्था, युवावस्था और वृद्धावस्था की प्राप्ति होती है, वैसे मृत्यु होने पर अन्य देह की प्राप्ति भी होती है। धीर व्यक्ति ऐसे परिवर्तन से मोहित नहीं होता। (भगवद्गीता २.१३)

शरीर के बदल जाने पर भी शरीर में रहने वाला जीव वही रहता है। यद्यपि बालक युवक हो जाता है तथापि उसके शरीर में रहने वाला जीवात्मा नहीं बदलता। ऐसा नहीं है कि वह जीवात्मा जो उस शरीर में बालक के रूप में था, वह कहीं चला गया है। आधुनिक चिकित्सा-विज्ञान भी स्वीकार करता है कि यह भौतिक शरीर निरन्तर बदलता रहता है। जैसे मनुष्य इस परिवर्तन से चिन्तित नहीं होते, वैसे ही ज्ञानी पुरुष इस शरीर के अंतिम परिवर्तन अर्थात् मृत्यु के समय भी उद्विग्न नहीं होते। परन्तु जो मनुष्य वस्तुस्थिति को यथार्थ रूप में नहीं समझता,

वह शोकाकुल होता है। भौतिक दशा में हम सदा देहान्तरण करते रहते हैं, यही हमारी व्याधि है। ऐसा नहीं है कि हम सदा मनुष्य शरीर ही प्राप्त करते हैं। अपने कर्मानुसार कभी हम पशु-शरीर या देव-शरीर भी पा सकते हैं। पद्मपुराण के मतानुसार जीवों की ८४,००,००० योनियाँ हैं। मृत्यु के उपरान्त हमें इनमें से कोई भी योनि प्राप्त हो सकती है। किन्तु श्रीकृष्ण आश्वासन देते हैं कि जो व्यक्ति उनके जन्म और कर्म के रहस्य को तत्त्वतः जानता है, वह जन्म-मृत्यु के इस चक्र से छूट जाता है।

श्रीकृष्ण के जन्म और कर्म को कोई व्यक्ति तत्त्व से किस प्रकार समझ सकता है? इसका उपाय *भगवद्गीता* के १८ वें अध्याय में बताया गया है:

भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्॥

"मैं जितना और जो हूँ उसे केवल भक्ति द्वारा ही जाना जा सकता है, और भक्ति द्वारा तत्त्व से मुझे जानने के उपरान्त मनुष्य भगवद्धाम में भी प्रवेश कर सकता है। (*भगवद्गीता* १८.५५)

यहाँ फिर 'तत्त्वतः' शब्द प्रयुक्त हुआ है। श्रीकृष्ण के विज्ञान को मनुष्य केवल भक्त बन कर समझ सकता है। जो भक्त नहीं है, जो कृष्णभावनामृत प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील नहीं है, वह भगवत्-रहस्य नहीं समझ सकता। गीता के चौथे अध्याय (४.३) के आरम्भ में भी श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि वे योग के प्राचीन विज्ञान को उसे समझा रहे हैं, क्योंकि वह उनका भक्त और मित्र है। जो व्यक्ति *भगवद्गीता* का अध्ययन केवल विद्वत्ता के लिए करता है, उसके लिए कृष्ण-तत्त्व एक रहस्य ही बना रहता है। *भगवद्गीता* कोई ऐसी पुस्तक नहीं है, जिसे कोई भंडार से मोल लेकर केवल अपनी विद्वत्ता द्वारा ही समझ सके। अर्जुन न तो कोई उच्च विद्वान था, न वेदान्ती, न दार्शनिक,

न ब्राह्मण, न त्यागी, बल्कि वह एक गृहस्थ और योद्धा सैनिक था। फिर भी कृष्ण ने उसे गीता का ज्ञान देने के लिए चुना और अपनी शिष्य-परंपरा में प्रथम स्थान दिया। ऐसा क्यों? "क्योंकि तुम मेरे भक्त हो।" *भगवद्गीता* और श्रीकृष्ण को यथारूप समझने के लिए बस यही अनिवार्य योग्यता या पात्रता है कि मनुष्य कृष्णभावनाभावित बन जाये।

यह कृष्णभावनामृत क्या है? यह मन के दर्पण से दुष्प्रवृत्तियों की धूल को महामंत्र के जप द्वारा साफ करने की प्रक्रिया है:

हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे।
हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे॥

इस मन्त्र के कीर्तन और *भगवद्गीता* के श्रवण से हम धीरे धीरे कृष्णभावनाभावित हो सकते हैं। *ईश्वरः सर्वभूतानां*—श्रीकृष्ण सदा हमारे हृदय में विराजमान हैं। इस शरीर-वृक्ष पर व्यक्तिगत जीवात्मा और परमात्मा रूपी दो पक्षी बैठे हैं। जीवात्मा रूपी पक्षी इस वृक्ष के फलों को खा रहा है, और परमात्मा रूपी पक्षी केवल साक्षी के रूप में स्थित है। जैसे ही व्यक्तिगत जीवात्मा भक्तिमय सेवा शुरू करता है, और धीरे धीरे कृष्णभावनामृत को विकसित करने लगता है वैसे ही अन्तःकरण में स्थित परमात्मा मन के दर्पण पर पड़ी सभी प्रकार की धूल को साफ करने में उसकी सहायता करता है। श्रीकृष्ण साधु वृत्ति वाले सभी व्यक्तियों के मित्र हैं, और कृष्णभावनामृत को जाग्रत करने का प्रयास साधु-वृत्ति है। *श्रवणम् कीर्तनम्*—श्रवण और कीर्तन से मनुष्य श्रीकृष्ण के विज्ञान को समझने के स्तर पर आता है और इस तरह कृष्ण को समझ सकता है। कृष्ण को समझ लेने पर मनुष्य मृत्यु के समय तुरन्त श्रीकृष्ण के वैकुंण्ठ धाम को जा सकता है। इस वैकुण्ठ जगत का वर्णन *भगवद्गीता* में इस प्रकार किया गया है:

न तद् भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः।
यद् गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम॥

"मेरे उस परम धाम को न तो सूर्य प्रकाशित करता है, न चन्द्रमा प्रकाशित करता है और न ही बिजली प्रकाशित करती है। जो जीवात्मा वहाँ पहुँच जाता है, वह फिर इस भौतिक जगत में कभी नहीं लौटता।" (*भगवद्गीता* १५.६)

"यह भौतिक जगत सदा अन्धकारमय है, इसलिए हमें यहाँ सूर्य, चन्द्रमा और विद्युत की आवश्यकता पड़ती है। वेद हमें इस अन्धकारमय जगत में न रहकर ज्योतिर्मय आध्यात्मिक जगत में चले जाने का आदेश देते हैं। अंधकार शब्द के दो अर्थ हैं—प्रकाशरहित और अज्ञान।

परमेश्वर में अनेक शक्तियाँ हैं। यह बात नहीं है कि वे इस भौतिक जगत में केवल कर्म करने के लिए आते हैं। वेदों में कहा गया है कि ईश्वर को कोई कर्म नहीं करना पड़ता है। *भगवद्गीता* में भी श्रीकृष्ण कहते हैं:

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किञ्चन।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि॥

"हे पृथापुत्र अर्जुन! तीनों लोकों में मेरे लिए कुछ भी कर्तव्य नियत नहीं है। न तो मुझे किसी वस्तु का अभाव है, न किसी चीज की आवश्यकता है, तब भी मैं नियत कर्म करता हूँ।" (*भगवद्गीता* ३.२२)

इसलिए हमें ऐसा नहीं सोचना चाहिए कि श्रीकृष्ण इस भौतिक जगत में अवतार लेने और अनेक कर्म करने के लिए बाध्य हैं। कोई भी व्यक्ति श्रीकृष्ण से बड़ा या उनके समान नहीं है। श्रीकृष्ण में स्वाभाविक रूप से ही समस्त ज्ञान विद्यमान है। यह भी नहीं है कि ज्ञान प्राप्त करने के लिए उन्हें तपस्या करनी पड़ती हो, या किसी समय किसी से ज्ञान प्राप्त करना पड़ता हो। सभी देश-काल में वे ज्ञान से पूर्ण हैं। उन्होंने अर्जुन को गीता का उपदेश दिया, पर उन्हें कभी गीता नहीं सिखाई गयी। जो पुरुष श्रीकृष्ण के इस स्वरूप को समझ लेता है, उसे इस

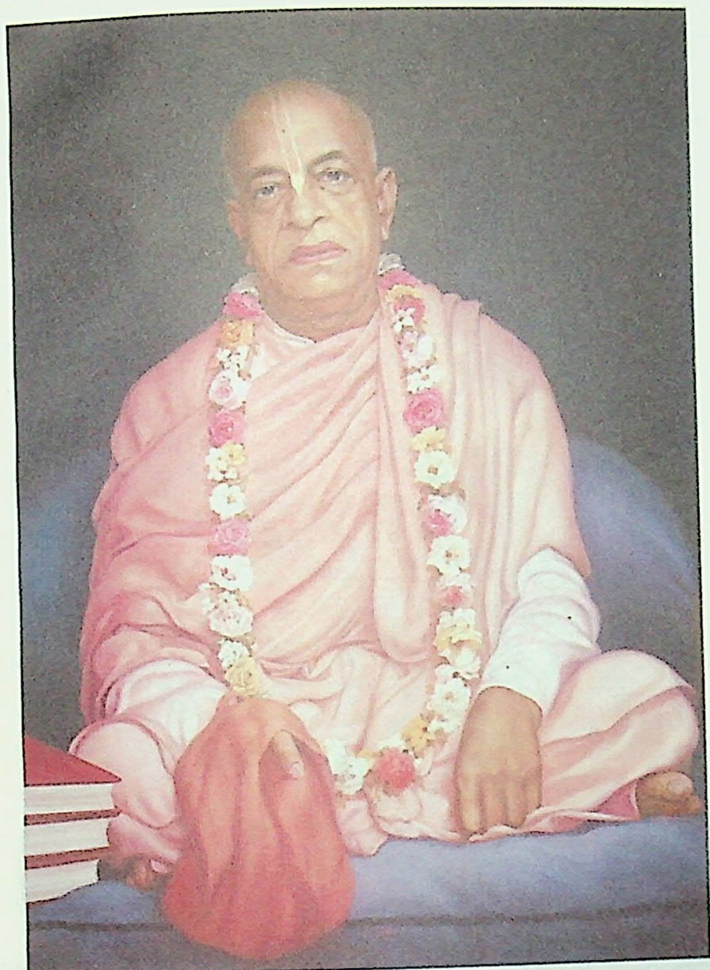
भौतिक जगत के जन्म मरण के चक्र में वापस नहीं आना पड़ता। माया के प्रभाव के कारण हम लोग इस भौतिक-जगत के वातावरण से अपने पूरे जीवन-काल में समझौता करते ही रहते हैं, किन्तु वास्तव में इस मानव-जीवन का यह उद्देश्य नहीं है। इस मानव जीवन का उद्देश्य कृष्ण के तत्त्व-विज्ञान को समझना है।

हमारी भौतिक आवश्यकतायें हैं—आहार, निद्रा, मैथुन, आत्मरक्षा और इन्द्रियों द्वारा विषय भोग में तृप्ति। ये आवश्यकतायें मनुष्यों और पशुओं में समान हैं। पशु-जगत इन समस्याओं का समाधान करने के प्रयास में व्यस्त रहता है और यदि हम भी केवल इन समस्याओं के समाधान करने में ही लगे रहें, तो पशु हम से किस तरह भिन्न होंगे? परन्तु मनुष्य में एक विशेष योग्यता भी है, जिस से वह दिव्य कृष्णभावनामृत विकसित कर सकता है, परन्तु यदि वह ऐसा नहीं करता तो वह पशु श्रेणी में ही रहता है। आधुनिक सभ्यता का यह एक महान् दोष है कि उसमें जीवन-निर्वाह सम्बन्धी इन समस्याओं को हल करने पर बहुत अधिक बल दिया जाता है। आध्यात्मिक जीव होने के कारण हमारा यह अनिवार्य कर्तव्य है कि हम अपने आप को जन्म-मरण के बंधन से बाहर निकालें। अतः हमें सावधान रहना चाहिए कि मनुष्य जीवन का जो विशेष अवसर हमें मिला है, वह कहीं चूक न जाये। श्रीकृष्ण स्वयं गीता का उपदेश देने के लिए और कृष्णभावनाभावित बनने में हमारी सहायता करने के लिए आते हैं। वास्तव मे, यह नाशवान् भौतिक सृष्टि हमें इसी भगवद् भावना को जगाने के लिये दी गई है। यदि इस अवसर तथा दुर्लभ मनुष्य शरीर को हम कृष्णभावनामृत को प्राप्त करने में नहीं लगाते, तो हम इस दुर्लभ अवसर को खो देंगे। इसके अनुशीलन की प्रक्रिया बड़ी सरल है—*श्रवणं कीर्तनम्*—भगवन्नाम का श्रवण और कीर्तन। हमें सुनने के अतिरिक्त और कुछ नहीं करना है। ध्यान से सुनने पर आत्म-ज्ञान की प्राप्ति निश्चित है। श्रीकृष्ण अवश्य ही

हमारी सहायता करेंगे, क्योंकि वे हमारे हृदय में विराजमान हैं। हमें तो केवल थोड़ा समय निकाल कर प्रयत्न करना है। हमें किसी के द्वारा यह पूछे जाने की आवश्यकता नहीं पड़ेगी कि हम प्रगति कर रहे हैं या नहीं। हमें इसका पता अपने आप ही लग जाएगा, जैसे एक भूखे व्यक्ति को पेट भर भोजन करने पर तृप्ति अनुभव हो जाती है ।

कृष्णभावनामृत अथवा आत्म-साक्षात्कार की यह प्रक्रिया वस्तुतः कठिन नहीं है। श्रीकृष्ण ने गीता में इसे अर्जुन को सिखाया था, और यदि हम गीता को वैसे ही समझ लें जैसे अर्जुन ने उसे समझा था, तो हमें जीवन के लक्ष्य तक पहुँचने में कोई कठिनाई नहीं होगी। परन्तु यदि हम *भगवद्गीता* की व्याख्या अपनी सांसारिक, शैक्षणिक विद्वत्ता के अनुसार करने लगें, तो सब कुछ बिगड़ जाएगा।

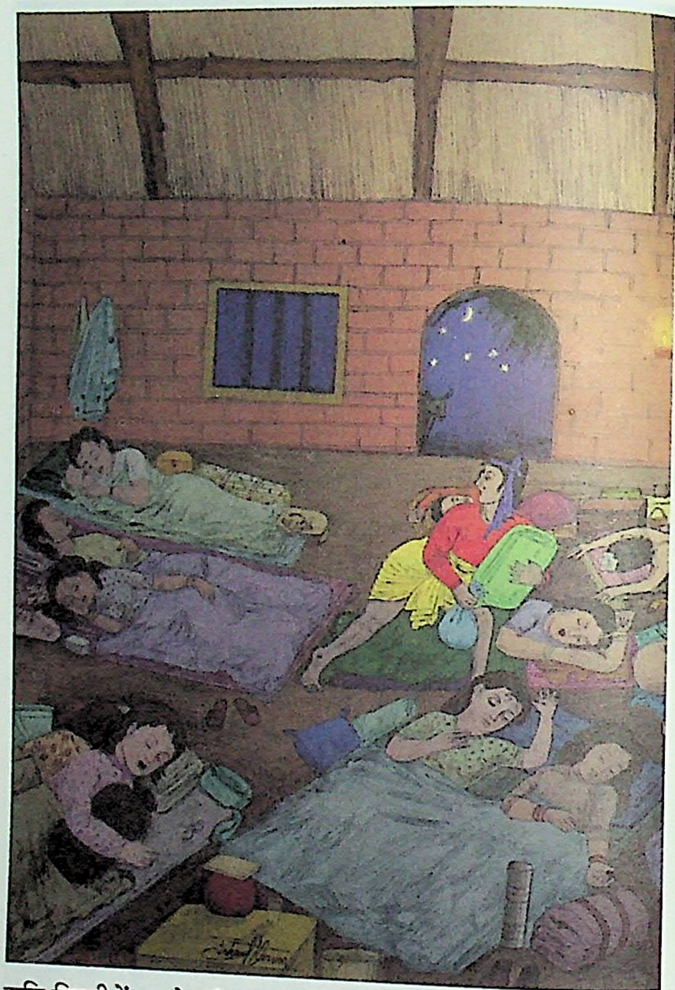
जैसा पूर्व में कहा जा चुका है, हरे कृष्ण महामंत्र का यह कीर्तन ही वह उपाय है जिससे भौतिक संसर्गों के कारण चित्त के दर्पण पर जमी दुष्प्रवृत्तियों की सारी धूल दूर हो जाती है। हमें कृष्णभावनामृत जाग्रत करने के लिए बाह्य सहायता की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि कृष्णभावना हमारे हृदय में सुप्तावस्था में पहले से ही विद्यमान है। वास्तविकता तो यह है कि कृष्णभावना ही हमारा यथार्थ गुण है। हमें केवल इस प्रक्रिया से उसे उद्भावित करना है। कृष्णभावना एक शाश्वत सत्य है। यह कोई मतवाद या किसी संस्था द्वारा थोपे हुए विश्वासों का संकलन नहीं है। यह प्रत्येक प्राणी में विद्यमान है, चाहे वह मनुष्य हो या पशु। लगभग ५०० वर्ष पूर्व जब श्री चैतन्य महाप्रभू दक्षिण भारत की यात्रा करते समय एक गहन वन में से होकर निकलते हुए हरे कृष्ण महामंत्र का कीर्तन कर रहे थे, तो बाघ, हाथी, मृग आदि सभी वन्य-पशु कृष्ण के पवित्र नामों की धुन पर उनके संकीर्तन नृत्य में सम्मिलित हो गये थे। निस्सन्देह, यह संकीर्तन की शुद्धता पर निर्भर है। जैसे-जैसे हम जप में प्रगति करते हैं, वैसे-वैसे शुद्धिकरण जरुर होगा।•



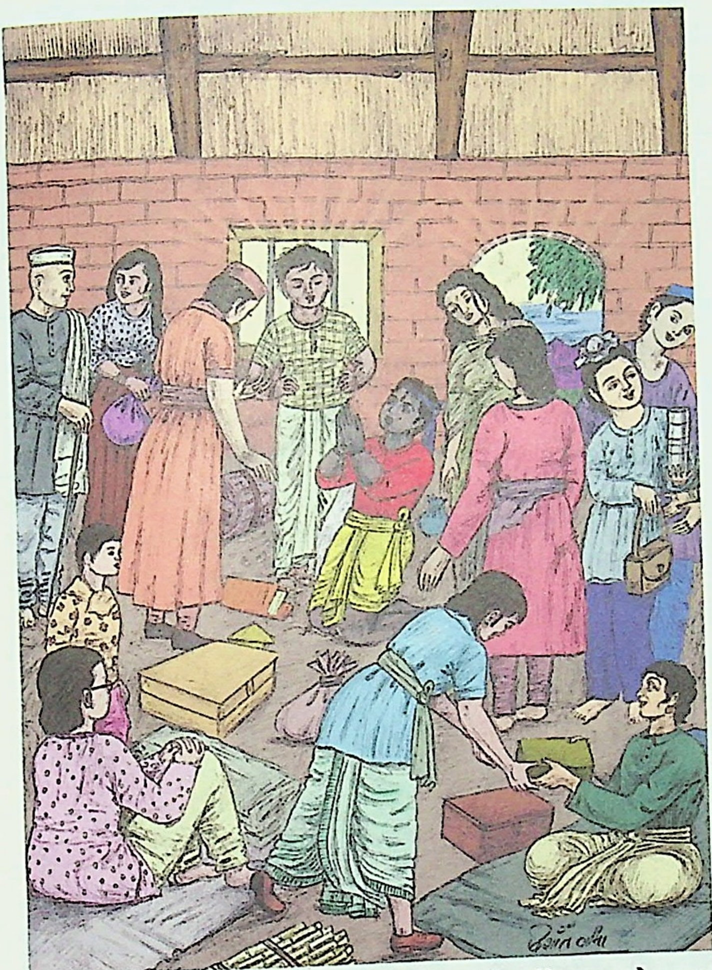
कृष्णकृपामूर्ति

श्री श्रीमद् ए.सी. भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद

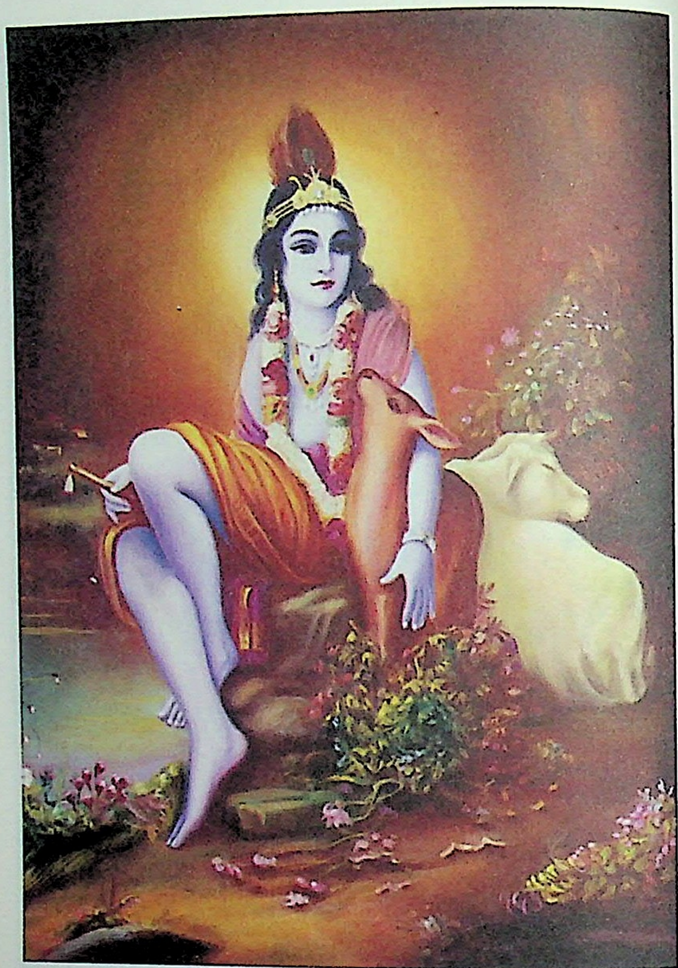
अन्तर्राष्ट्रीय कृष्णभावनामृत संघ के संस्थापकाचार्य एवं सम्पूर्ण विश्व में वैदिक ज्ञान के अद्वितीय प्रचारक



यदि किसीमें पहले की आदतों के कारण कोई अनैतिक प्रवृत्तियाँ होगी, परंतु यदि वह कृष्णभावना में पूर्ण रूप से स्थित होगा, तो उन दुष्प्रवृत्तियों को महत्त्व नहीं दिया जाना चाहिए।



कृष्णभावनाभावित बनने के बाद व्यक्ति धीरे धीरे शुद्ध हो जाता है। इस संदर्भ में एक चोर की कहानी बतायी जाती है...



मैं सभी भौतिक और आध्यात्मिक जगतों का निर्माणकर्ता हूँ। सब कुछ मुझसे निकलता है। जो बुद्धिमान मानव इस बात को पूर्ण रूप से समझते हैं, वे मेरी भक्ति में संलग्न हो जाते हैं और अपने हृदय से मेरा भजन करते हैं।

३

सर्वत्र और सदा कृष्ण का दर्शन

हमारे व्यावहारिक जीवन में कृष्णभावनामृत कैसे जाग्रत हो, इसकी शिक्षा श्रीकृष्ण ने हमें दी है। ऐसा नहीं कि हमें अपना कर्तव्य करना छोड़ देना चाहिए या कोई भी कर्म करना बन्द कर देना चाहिए। बल्कि, कर्म कृष्णभावनामृत में रहते हुए करते रहना चाहिए। प्रत्येक व्यक्ति जीवन में कोई न कोई व्यवसाय करता है, किन्तु प्रश्न यह है कि वह इसे किस भावना से करता है? हर मनुष्य सोचता है, "अपने परिवार का पोषण करने के लिए मुझे कोई न कोई व्यवसाय चाहिए।" हमें समाज, प्रशासन अथवा परिवार को सन्तुष्ट करना होता है और इस भावना से कोई भी व्यक्ति मुक्त नहीं है। किसी भी कार्य को भली भांति करने के लिए मनुष्य में सही भावना का होना अनिवार्य है। वह व्यक्ति जिसकी भावना अशान्त है और जो पागल जैसा है, वह कोई कर्तव्य पालन नहीं कर सकता। हमें अपना कर्तव्य पालन समुचित रूप से करना चाहिए, परन्तु इस विचार के साथ कि यह श्रीकृष्ण की संतुष्टि के लिए है। ऐसा नहीं कि हमें अपनी कार्य-पद्धति बदलनी पड़े, परन्तु हमें यह समझना आवश्यक है कि हम किस के लिए कार्य कर रहे हैं। हमें जो भी कार्य करना है, वह अवश्य करें पर *काम* भाव के वशीभूत होकर न करें। संस्कृत का यह काम शब्द लोलुपता, इच्छा, आकांक्षा और इन्द्रिय तुष्टि का बोध कराता है। श्रीकृष्ण हमें निर्देश देते हैं कि हमें कोई कार्य अपने काम की तुष्टि के लिए नहीं करना चाहिये। *भगवद्गीता* की सम्पूर्ण शिक्षा इसी सिद्धान्त पर आधारित है।

अर्जुन अपनी इन्द्रियों की सन्तुष्टि के लिए अपने बन्धुबांधवों से युद्ध नहीं करना चाहता था, किन्तु श्रीकृष्ण ने समझाया कि उसे परमेश्वर की तुष्टि के लिए अपना कर्तव्य पालन करना चाहिए। भौतिक दृष्टि से यह विचार बड़ा पवित्र लग सकता है कि अर्जुन अपने राज्याधिकार को छोड़ रहा है और अपने सम्बन्धियों को मारने से इनकार कर रहा है। किन्तु श्रीकृष्ण ने इस सिद्धान्त का अनुमोदन नहीं किया, क्योंकि अर्जुन का निर्णय अपनी इन्द्रियों को तुष्ट करना था। मनुष्य को अपने कार्य या व्यवसाय को बदलने की आवश्यकता नहीं है, जैसे अर्जुन का कार्य नहीं बदला, पर उसे अपनी भावना अवश्य ही बदलनी होगी किन्तु इस भावना को बदलने के लिए ज्ञान की आवश्यकता है। वह ज्ञान है यह जानना कि, "मैं कृष्ण का अंश हूँ; उनकी परा शक्ति हूँ।" यही वास्तविक ज्ञान है। सापेक्ष्य ज्ञान एक यंत्र की मरम्मत करना तो सिखा सकता है, किन्तु वास्तविक ज्ञान श्रीकृष्ण के अंशभूत होने की स्थिति को जानना है। हम श्रीकृष्ण के अंश हैं, इसलिए हमारा सुख जो भी आंशिक है, वह परम पूर्ण पर अवलम्बित है। उदाहरण के लिए, मेरे हाथ को तब तक सुख मिल सकता है, जब तक वह शरीर से सम्बद्ध है और उसकी सेवा कर रहा है। उसे दूसरे के शरीर की सेवा करने से सुख नहीं मिलता है। चूँकि हम कृष्ण के अंश है, अतः कृष्ण की सेवा करने से ही हमें सुख मिल सकता है। प्रत्येक व्यक्ति सोचता है, "तुम्हारी सेवा करके मैं सुखी नहीं हो सकता। मैं तो केवल अपनी सेवा करके सुखी हो सकता हूँ।" परन्तु कोई भी व्यक्ति नहीं जानता कि यह 'मैं' कौन है? वह 'मैं' कृष्ण ही हैं।

ममैवांशो जीव लोके जीव भूतः सनातनः।
मनः षष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति॥

"इस बद्धलोक में ये जीवात्माएँ मेरे ही सनातन अंश हैं। बद्ध जीवन के कारण, वे मन सहित छह इन्द्रियों द्वारा कठोर संघर्ष कर रहे हैं। (*भगवद्गीता* १५.७)

जीवात्मा भौतिक सम्पर्क के कारण अब पूर्ण से पृथक् हो गया है। अतः हमारे लिए यह आवश्यक है कि हम अपने आपको कृष्णभावनामृत के द्वारा जो हम में पहले से ही सुप्तावस्था में विद्यमान है, हम अपने आपको पुनः कृष्ण से जोड़ने का प्रयत्न करें। हम कृत्रिम रूप से श्रीकृष्ण को भूलने का और स्वतंत्र जीवन व्यतीत करने का प्रयास कर रहे हैं, पर यह सम्भव नहीं है। जब हम श्रीकृष्ण से स्वतंत्र रहने का प्रयत्न करते हैं, तो तुरन्त हम भौतिक प्रकृति के नियमों के प्रभाव में आ जाते हैं। यदि कोई मनुष्य यह सोचता है कि वह श्रीकृष्ण से स्वतंत्र है तो वह कृष्ण की माया-शक्ति के प्रभाव में आ जाता है, ठीक उसी प्रकार जैसे यदि कोई समझे कि वह सरकार या प्रशासन और उसके विधि-निषेधों से मुक्त है, तो वह पुलिस नियंत्रण में आ जाता है। प्रत्येक व्यक्ति स्वतंत्र होने का प्रयत्न कर रहा है। और इसे *माया* कहते हैं। व्यक्तिगत रूप से, साम्प्रदायिक रूप से, सामाजिक रूप से, राष्ट्रीय रूप से अथवा सार्वजनिक रूप से, स्वतंत्र होना संभव नहीं है। जब हम यह समझने लगेंगे कि हम आश्रित हैं, तब हमें यथार्थ ज्ञान हो जायेगा। आज अनेक लोग संसार में शांति के लिए प्रयत्नशील हैं, किन्तु उन्हें शान्ति के सिद्धान्त का प्रयोग करना नहीं आता। संयुक्त राष्ट्र संघ अनेक वर्षों से शान्ति के लिए यत्न कर रहा है, किन्तु युद्ध अब भी हो रहे हैं:

यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन।
न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम्॥

"हे अर्जुन! समस्त प्राणियों का मूल बीज मैं ही हूँ। जगत में चर अथवा अचर ऐसा कुछ भी नहीं है जिसका अस्तित्व मेरे बिना सम्भव हो सके।" (*भगवद्गीता* १०.३९)

इस प्रकार श्रीकृष्ण चराचर सम्पूर्ण जगत के स्वामी हैं प्रत्येक फल के अन्तिम भोक्ता और लाभ पाने वाले हैं। हम अपने को अपने परिश्रम के फल का स्वामी मान तो सकते हैं, किन्तु यह एक भ्रम मात्र है। हमें

यह समझ लेना चाहिए कि श्रीकृष्ण ही हमारे सारे कर्मों के फलों के अन्तिम स्वामी हैं। किसी कार्यालय में चाहे सैकड़ों आदमी काम कर रहे हों, पर वे जानते हैं कि व्यापार में जो कुछ लाभ होता है, वह सब उसके मालिक का है। जैसे बैंक का खजांची यदि यह सोचने लगे, "ओह, मेरे पास तो बहुत सा धन है, मैं इसका स्वामी हूँ, इसे मैं घर ले जाऊँ।" बस, तुरन्त ही उसके लिए विपत्ति की शुरूआत ही जाती है। यदि हम सोचते हैं कि जो धन हमने एकत्र किया है, वह हम अपनी इन्द्रियों की तुष्टि के लिए उपयोग कर सकते हैं, तो समझना चाहिए हम *काम* भाव से कर्म कर रहे हैं। किन्तु यदि हम यह समझ लें कि हमारे पास जो कुछ है, वह सब श्रीकृष्ण का है, तो हम मुक्त हैं। वही धन हमारे हाथ में हो सकता है, पर अपने को उसका स्वामी समझते ही हम *माया* के वश में चले जाते हैं। जो मनुष्य इस भाव में स्थित है कि सब पदार्थ श्रीकृष्ण के हैं, वही यथार्थ पंडित है।

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम्॥

"इस ब्रह्माण्ड में जड़-चेतन जो कुछ है उस सब पर परमेश्वर का नियंत्रण और आधिपत्य है। मनुष्य को वही वस्तु ग्रहण करनी चाहिए जो ईश्वर ने उसकी आवश्यकता के अनुसार उसे दी है। दूसरी वस्तुओं को, यह भली भांति जानते हुए कि वे किस की हैं, स्वीकार नहीं करना चाहिए। (*श्रीईशोपनिषद्* मंत्र १)

ईशावास्य अर्थात् 'प्रत्येक वस्तु कृष्ण की है'—यह भावना फिर से जागृत करनी चाहिए; केवल व्यक्तिगत स्तर पर ही नहीं, अपितु राष्ट्रीय और अखिल ब्रह्माण्ड के स्तर पर भी तभी शान्ति स्थापित होगी। हम प्रायः मानवतावादी एवं परोपकारी कार्य करने की मनोवृत्ति दर्शाते हैं, अपने परिवार, अपने देशवासियों और संसारके सभी देशवासियों के साथ मैत्रीभाव रखने का प्रयत्न करते हैं, किन्तु यह मनोवृत्ति गलत सोच

पर आधारित है। हमारे वास्तविक मित्र केवल श्रीकृष्ण ही हैं और यदि हम अपने परिवार, राष्ट्र या समस्त विश्व को लाभ पहुँचाना चाहते हैं, तो हमें उन्हीं के लिए कार्य करना होगा। यदि हम अपने परिवार की कुशलता चाहते हैं तो हमें उसके प्रत्येक सदस्य को कृष्णभावनाभावित बनाने का प्रयत्न करना चाहिए। संसार में अनेक मनुष्य अपने परिवार को लाभ पहुँचाने का प्रयत्न कर रहे हैं, किन्तु दुर्भाग्य से वे सफल नहीं हो पाते। वे नहीं जानते कि वास्तविक समस्या क्या है? जैसाकि *श्रीमद्भागवतम्* कहता है मनुष्य को तब तक माता, पिता या गुरु बनने का प्रयत्न नहीं करना चाहिए, जब तक कि वह अपने आश्रित को मृत्यु रूपी भौतिक प्रकृति के बन्धन से छुड़ाने की क्षमता न रखता हो। पिता को कृष्ण-तत्त्व का ज्ञान होना चाहिए और उसे दृढ़ता से संकल्प करना चाहिए कि जो निष्पाप बालक उसे सौंपे गये हैं, वे फिर जन्म-मृत्यु के चक्र में न पड़ें। उसे दृढ़ निश्चयपूर्वक अपने बच्चों को ऐसी शिक्षा देनी चाहिए कि उन्हें जन्म-मृत्यु के दुखदायक चक्र में अब और नहीं फँसना होगा। किन्तु ऐसा करने के पहले उसे स्वयं दक्षता प्राप्त करनी होगी। यदि वह कृष्णभावनामृत में ऐसी दक्षता प्राप्त कर लेता है, तो वह न केवल अपने बच्चों की ही सहायता करता है, अपितु अपने समाज और राष्ट्र की भी सहायता कर सकता है। किन्तु यदि वह स्वयं अज्ञान से बंधा हुआ है, तो वह दूसरे को कैसे मुक्त करा सकता है, जो इसी तरह से बंधे हुए हैं? मनुष्य दूसरे को मुक्त करा सके, उसके पूर्व यह आवश्यक है कि वह स्वयं मुक्त हो। वास्तव में कोई भी व्यक्ति मुक्त नहीं है; प्रत्येक व्यक्ति भौतिक प्रकृति के अधीन है। परन्तु जो श्रीकृष्ण की शरण में आ गया है, उसे माया छू नहीं सकती। समस्त मनुष्यों में वही मुक्त मनुष्य है। यदि कोई व्यक्ति सूर्य के प्रकाश में खड़ा है, तो उसके अन्धकार में होने का प्रश्न ही नहीं उठता। किन्तु यदि कोई व्यक्ति कृत्रिम प्रकाश में है, तो वह प्रकाश टिमटिमा कर बुझ भी सकता है। श्रीकृष्ण सूर्य के

समान हैं। वे जहाँ भी विद्यमान रहते हैं, वहाँ अन्धकार और अज्ञान के होने का प्रश्न ही नहीं उठता। बुद्धिमान *महात्मा* लोग इस बात को समझते हैं।

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः॥

"वासुदेव रूप से मैं ही समस्त आध्यात्मिक एवं भौतिक जगत की उत्पत्ति का कारण हूँ। प्रत्येक वस्तु मुझ से ही उद्‌भूत है। जो बुद्धिमान लोग यह पूर्णतया जानते हैं, वे भक्ति भाव से मुझे भजते हैं और सच्चे हृदय से मेरी पूजा करते हैं।" (*भगवद्गीता* १०.८)

इस श्लोक में 'बुध' शब्द प्रयुक्त हुआ है, जो बुद्धिमान या विद्वान मनुष्य का निर्देश करता है। उसका लक्षण क्या है? वह जानता है कि श्रीकृष्ण इस सम्पूर्ण सृष्टि के उद्‌गम हैं। वह समझता है कि वह जो कुछ भी देखता है वह श्रीकृष्ण से उत्पन्न हुआ है। इस भौतिक जगत में यौनजीवन सबसे महत्त्वपूर्ण तत्त्व है। कामभाव सभी जीवों में पाया जाता है। ऐसा प्रश्न हो सकता है कि यह काम भाव वस्तुतः कहाँ से आता है। बुद्धिमान मनुष्य समझता है कि यह काम भावना श्रीकृष्ण में विद्यमान है और यह व्रज की गोपिकाओं के साथ उनके सम्बन्धों में प्रकट होती है। इस भौतिक जगत में जो कुछ भी पाया जाता है, वह श्रीकृष्ण में भी परिपूर्ण रूप में पाया जाता है। अन्तर यह है कि इस भौतिक जगत में प्रत्येक वस्तु विकृत रूप में दिखाई देती है। कृष्ण में यह सारी वृत्तियाँ एवं उनका प्राकट्य अपने शुद्ध रूप में, अध्यात्म के सम्बन्ध में पाई जाती हैं। जो इस बात को तत्त्वतः पूर्ण ज्ञान में जानता है, वह श्रीकृष्ण का शुद्ध भक्त बन जाता है:

महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम्॥

सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते॥

'हे पार्थ! मोहमुक्त महात्माजन दिव्य प्रकृति के संरक्षण में रहते हैं। वे पूर्णतः भक्ति में निमग्न रहते हैं, क्योंकि वे मुझे आदि तथा अविनाशी पूर्ण पुरुषोत्तम परमेश्वर के रूप में जानते हैं। ये महात्मा सदा मेरी महिमा का कीर्तन करते हुए दृढसंकल्प के साथ प्रयास करते हुए मुझे नमस्कार करते हुए, भक्तिभाव से निरन्तर मेरी पूजा करते हैं। (*भगवद्गीता* ९.१३-१४)

महान् आत्मा, महात्मा, कौन है? महात्मा वह है जो भगवान् की उच्चतर पराशक्ति के अधीन है। इस समय हम श्रीकृष्ण की निकृष्ट माया शक्ति के अधीन हैं। जीवात्मा की स्थिति तटस्था शक्ति जैसी है, हम अपने को इन दोनों में से किसी शक्ति की ओर स्थानान्तरित कर सकते हैं। श्रीकृष्ण पूर्णतया स्वतन्त्र हैं, और उनके अंश होने के कारण हम में भी स्वतन्त्रता का यह गुण विद्यमान है। इसलिए हम चुन सकते हैं कि हमें किस शक्ति के अधीन रहना है। क्योंकि हम भगवान् की उच्चतर परा-शक्ति को नहीं जानते, अतः उनकी निकृष्ट माया शक्ति के अधीन रहने के अतिरिक्त हमारे पास और कोई चारा नहीं है।

कुछ दर्शन यह प्रस्तुत करते हैं कि हम जिस प्रकृति का अनुभव इस समय कर रहे हैं, उसके अतिरिक्त और कोई प्रकृति नहीं है, और इससे मुक्त होने का एक मात्र उपाय है—इस प्रकृति को निष्फल करके शून्यवत् रिक्त हो जाना। किन्तु हम शून्यवत् रिक्त नहीं हो सकते, क्योंकि हम देहधारी जीव हैं। इसका अर्थ यह नहीं है कि हम अपना शरीर परिवर्तन करते हैं इसलिए हम समाप्त हो गये हैं। भौतिक प्रकृति के प्रभाव से मुक्त होने के पूर्व हमें यह समझ लेना चाहिए कि हमारा वास्तविक स्थान कहाँ है और हमें जाना कहाँ है। यदि हमें यह मालूम नहीं कि हमें जाना कहाँ है, तो हम यही कहेंगे, "हाय, हम नहीं जानते

कि बढ़िया क्या है और घटिया क्या है। हम जो कुछ जानते हैं वह यही है; अतः हमें यहीं रहने दो और सड़ने दो।" किन्तु *भगवद्गीता* हमें अंतरंगा शक्ति और परा-प्रकृति के विषय में बताती है।

श्रीकृष्ण जो कुछ कहते हैं, वह शाश्वत सत्य होता है। उसमें परिवर्तन नहीं होता। हमारा वर्तमान व्यवसाय क्या है अथवा अर्जुन का व्यवसाय क्या था इससे काई अन्तर नहीं पड़ता; हमें केवल अपनी भावना में बदलाव लाना है। इस समय हम केवल स्वार्थ-भावना से प्रेरित हैं किन्तु हम यह नहीं जानते कि हमारा वास्तविक स्वार्थ क्या है। सच्चाई तो यह है कि हममें 'स्वार्थ' नहीं, 'इन्द्रियार्थ' है। हम जो कुछ कर रहे हैं, वह इन्द्रियों को तृप्त करने के लिए ही कर रहे हैं। यही भावना हैजिसे हमें बदलना है। इसके स्थान पर हमें अपने सच्चे स्वार्थ अर्थात् कृष्णभावनामृत की स्थापना करनी चाहिए।

यह कैसे हो सकता है? अपने जीवन के प्रत्येक पग पर हमारा कृष्णभावनाभावित रहना कैसे संभव हो सकता है? वास्तव में इसे श्रीकृष्ण ने हमारे लिए बहुत सरल बना दिया है:

रसोऽहमप्सु कौन्तेय प्रभास्मि शशिसूर्ययोः।
प्रणवः सर्ववेदेषु शब्दः खे पौरुषं नृषु॥

"हे कुन्तीपुत्र! मैं जल में स्वाद हूँ, सूर्य तथा चन्द्रमा में प्रकाश हूँ, वैदिक मन्त्रों में ॐकार हूँ, आकाश में ध्वनि हूँ तथा मनुष्य में सामर्थ्य हूँ।"

इस श्लोक में श्रीकृष्ण बताते हैं कि हम अपने जीवन के प्रत्येक स्तर पर कृष्णभावनाभावित कैसे बन सकते हैं। सभी प्राणी जल पीते हैं। जल का स्वाद इतना उत्तम होता है कि जब हम प्यासे होते हैं, तब जल के अलावा और कुछ नहीं काम आता है। काई भी निर्माता शुद्ध जल के स्वाद जैसी वस्तु का निर्माण नहीं कर सकता। इस प्रकार जब हम पानी पीते हैं तो श्रीकृष्ण अथवा भगवान् का स्मरण कर सकते हैं। अपने

जीवन में प्रतिदिन पानी पिए बिना कोई नहीं रह सकता है। अतः कृष्णभावनामृत तो प्रतिक्षण विद्यमान है—इसे हम भुला ही कैसे सकते हैं?

इसी प्रकार, जब कहीं थोड़ा प्रकाश होता है, वह भी श्रीकृष्ण ही है। परव्योम में *ब्रह्मज्योतिः* अर्थात् मूलभूत तेज श्रीकृष्ण की दिव्य देह से ही निकलता है। यह भौतिक आकाश आच्छादित है। भौतिक जगत का मूलभूत स्वभाव अन्धकार है, जिसका अनुभव हम रात्रि में करते हैं। यह जगत कृत्रिम रूप से सूर्य से, चन्द्रमा के परावर्तित प्रकाश से और विद्युत् से प्रकाशित किया जा रहा है। कहाँ से आ रहा है यह प्रकाश? सूर्य ब्रह्मज्योति या आध्यात्मिक जगत के तेज से प्रकाशित हो रहा है। आध्यात्मिक जगत में सूर्य, चन्द्रमा या विद्युत् की कोई आवश्यकता नहीं होती है, क्योंकि वहाँ तो प्रत्येक वस्तु ब्रह्मज्योति से प्रकाशित है। इस पृथ्वी पर हम जब भी सूर्य का प्रकाश देखते हैं, तब श्रीकृष्ण का स्मरण कर सकते हैं।

जब हम वेदमन्त्रोच्चारण करते हैं, जो ॐ से प्रारम्भ होते हैं, तब भी हम श्रीकृष्ण का स्मरण कर सकते हैं। 'हरे कृष्ण' के समान ॐ भी ईश्वर के लिए एक सम्बोधन है और ॐ भी कृष्ण है। 'शब्द' का अर्थ है नाद या ध्वनि, और जब कभी हम कोई ध्वनि सुनते हैं, तो हमें समझना चाहिए कि यह उसी मूलभूत शुद्ध दिव्य ध्वनि ॐ या 'हरे कृष्ण' की प्रतिध्वनि है। इस भौतिक जगत में हम जो भी ध्वनि सुनते हैं, वह सब केवल उसी मूलभूत दिव्य नाद ॐ की प्रतिध्वनि है। इस प्रकार जब हम शब्द सुनते हैं, पानी पीते हैं, या कोई प्रकाश देखते हैं, तब हम भगवान् का स्मरण कर सकते हैं। यदि हम ऐसा कर सकें, तो वह कौन सा क्षण होगा, जब हम भगवान् को भूल सकेंगे? कृष्णभावनामृत की यही प्रक्रिया है। इस प्रकार हम चौबीस घण्टे श्रीकृष्ण का स्मरण कर सकते हैं, और इस तरह श्रीकृष्ण हमारे साथ

रहेंगे। निस्सन्देह, श्रीकृष्ण सदा ही हमारे साथ होते हैं, किन्तु ज्योंही हम यह स्मरण करते हैं, त्योंही श्रीकृष्ण की उपस्थिति प्रत्यक्ष अनुभव होने लगती है।

श्री भगवान् की संगति पाने के नौ विविध प्रक्रियाएँ हैं। इनमें प्रथम है 'श्रवण'—सुनना। *भगवद्गीता* पढ़ने से हम श्रीकृष्ण के प्रवचन सुनते हैं, जिसका तात्पर्य यह है कि हम भगवान् कृष्ण या ईश्वर का वास्तविक साथ प्राप्त कर रहे हैं। (हमें यह सदा स्मरण रखना चाहिए कि जब हम श्रीकृष्ण के विषय में कुछ कहते हैं, तब हमारा अभिप्राय भगवान् से होता है।) जितना हम भगवान् का संग करेंगे तथा उनके वचनों और नामों को सुनते रहेंगे, हमारा भौतिक प्रकृतिजन्य कल्मष उतना ही धुल जाता है। जब यह समझ में आने लगता है कि श्रीकृष्ण ही शब्द, प्रकाश, जल और अनेक अन्य पदार्थ हैं, तब कृष्ण से विमुख होना असम्भव हो जाता है। यदि हम श्रीकृष्ण का इस प्रकार स्मरण कर सकते हैं, तो उनसे हमारा सम्बन्ध स्थायी हो जाता है।

श्रीकृष्ण से सम्बन्ध होना सूर्यप्रकाश से सम्बन्ध होने के समान है। जहाँ सूर्य का प्रकाश होता है, वहाँ कोई संक्रामक रोग नहीं रहता। जब तक कोई सूर्य के पराबैंगनी किरणों में रहेगा, उसे कोई रोग नहीं लगेगा। पाश्चात्य चिकित्सा में सूर्य का प्रकाश सब प्रकार के रोगों के उपचार में उपयोगी बताया गया है। वेदों के मतानुसार तो रोगी को आरोग्य के लिए सूर्य की उपासना करनी चाहिए। इसी प्रकार यदि हम श्रीकृष्ण के साथ कृष्णभावनामृत का सम्बन्ध स्थापित कर लें, तो हमारी आपत्तियाँ समाप्त हो जायेंगी। 'हरे कृष्ण' के कीर्तन-जपसे हम श्रीकृष्ण के साथ सम्बन्ध स्थापित कर सकते हैं; जल, सूर्य, चन्द्र को कृष्ण के रूप में देख सकते हैं; शब्द में उन्हें सुन सकते हैं और जल में उनका स्वाद ले सकते हैं। दुर्भाग्य से अपनी वर्तमान स्थिति में हम श्रीकृष्ण को भूल चुके हैं। पर अब श्रीकृष्ण का स्मरण करके अपने आध्यात्मिक जीवन

को हमें पुन: जाग्रत करना है।

भगवान् श्री चैतन्य महाप्रभु ने इस श्रवण और कीर्तन की पद्धति का अनुमोदन किया था। अपने मित्र और महाभागवत रामानन्दराय से श्री चैतन्य महाप्रभू ने स्वरूप-साक्षात्कार की विधियों के सम्बन्ध में जब वार्तालाप के दौरान प्रश्न किया, तो रामानन्दराय ने वर्णाश्रम धर्म, संन्यास तथा अन्य अनेक साधनों की संस्तुति की, किन्तु चैतन्य महाप्रभु ने कहा, "नहीं, ये सभी इतने श्रेष्ठ साधन नहीं हैं।" श्री रामानन्दराय जब कोई साधन बताते, तो हर बार श्री चैतन्य महाप्रभु उसको अमान्य कर देते और आध्यात्मिक उन्नति के लिए और कोई श्रेष्ठतर साधन पूछते। अन्त में श्री रामानन्दराय ने एक वैदिक सूक्ति का उद्धरण दिया, जिसमें बताया गया है कि ईश्वर को समझने के लिए मनुष्य को अन्य सब अनावश्यक मानसिक तर्क छोड़ देने चाहिए, क्योंकि तर्क-वितर्क से परम सत्य तक नहीं पहुँचा जा सकता। उदाहरण के लिए, वैज्ञानिक लोग दूर-स्थित नाना प्रकार के नक्षत्रों तथा ग्रहों के विषय में अनुमान कर सकते हैं, किन्तु वे अनुभव के बिना किसी निष्कर्ष पर नहीं पहुँच सकते हैं। कोई व्यक्ति जीवन भर अनुमान लगाता रह सकता है, फिर भी ऐसा हो सकता है कि वह किसी निष्कर्ष पर पहुँच पाए है।

ईश्वर के विषय में मनगढंत चिन्तन करना और अनुमान लगाना विशेष रूप से निरर्थक है। इसलिए *श्रीमद्भागवत* का मत है कि ईश्वर के सम्बन्ध में सब प्रकार के तर्क-वितर्क करना छोड़ देना चाहिए। इसके स्थान पर यह संस्तुत किया गया है कि मनुष्य को विनम्र होकर यह सोचना चाहिए कि न केवल वह एक क्षुद्र प्राणी है, अपितु इस विशाल ब्रह्माण्ड में पृथ्वी भी एक बिन्दु मात्र है। न्यूयार्क नगर बहुत बड़ा प्रतीत हो सकता है, किन्तु जब एक व्यक्ति यह समझता है कि स्वयं पृथ्वी एक सूक्ष्म बिन्दु है, और पृथ्वी पर अमरीका एक अन्य क्षुद्र बिन्दु है, और उस अमरीका का न्यूयार्क शहर एक और छोटा सा बिन्दु है और न्यूयार्क

में हर एक व्यक्ति लाखों में से एक है, तो फिर वह भली भांति समझ सकता है कि वह अन्ततः उतना महत्त्वपूर्ण नहीं है। ब्रह्माण्ड और ईश्वर के अनुपात में अपनी क्षुद्रता का अनुभव करते हुए हमें कृत्रिम अभिमान से फूलना नहीं चाहिए अपितु विनम्र रहना चाहिए। हमें इस बात की सावधानी रखनी चाहिए कि हम 'मेंढक-दार्शनिकता' के शिकार न बन जाँए। एक बार किसी कुएँ में एक मेंढक रहता था। उसके किसी मित्र ने उससे अटलांटिक महासागर के अस्तित्व की चर्चा की। उसने मित्र से पूछा, "अरे, यह अटलांटिक महासागर क्या है?"

मित्र ने बताया, "वह जल का महान् भण्डार है।"

"कितना बड़ा? क्या वह इस कुएँ से दुगना बड़ा है?"

"अरे नहीं, इससे बहुत-बहुत बड़ा?" मित्र ने उत्तर दिया।

"कितना बड़ा? क्या इस कुएँ से दस गुना बड़ा?" इस प्रकार मेंढक गणना करता रहा। किन्तु मेंढक के लिये महासागर की गहराई और उसके असीम विस्तार को समझने की सम्भावना ही क्या है? हमारी शक्तियाँ, अनुभव और चिन्तन का सामर्थ्य सदा सीमित रहते हैं। हम तो सिर्फ मेंढक जैसी दार्शनिकता को ही बढ़ावा दे सकते हैं। इसलिये *श्रीमद्भागवत* में संस्तुत किया गया है कि परम को समझने के लिये चिंतन और अनुमान के तरीके का परित्याग कर देना चाहिये, क्योंकि परम को समझने के प्रयास में यह केवल समय नष्ट करना ही है।

तर्क-वितर्क छोड़कर हमें क्या करना चाहिये? *श्रीमद्भागवत* संस्तुति करती है कि हमें विनम्र होकर भगवत् संदेश सुनना चाहिए। यह संदेश हमें *भगवद्गीता,* अन्य वैदिक सहित्य, बाईबल, कुरान आदि किसी भी प्रामाणिक शास्त्र में से मिल सकता है या किसी आत्मज्ञानी पुरुष से सुना जा सकता है। मुख्य बात यह है कि मनुष्य को भगवान् के विषय में मात्र कल्पना नहीं करनी चाहिये वरन् भगवान् के विषय में

सुनना चाहिए। इस श्रवण का फल क्या होगा? कोई किसी भी स्थिति में हो—धनी, निर्धन, अमेरिकन, यूरोपियन, भारतीय, ब्राह्मण, शूद्र या और कुछ भी हो—यदि वह केवल भगवान् की दिव्य वाणी सुने, तो जो भगवान् किसी भी शक्ति या सामर्थ्य से नहीं जीते जा सकते, वे केवल प्रेम से जीते जा सकते हैं। अर्जुन श्रीकृष्ण का मित्र था, किन्तु श्रीकृष्ण परब्रह्म परमेश्वर होते हुए भी अर्जुन के लिये एक सेवक, रथ-सारथी बन गये। अर्जुन श्रीकृष्ण से प्रेम करता था और श्रीकृष्ण ने भी इस प्रकार उससे प्रेम का विनिमय किया। ऐसे ही जब श्रीकृष्ण बालक थे, तब उन्होंने खेल-खेल में अपने पिता, नन्द महाराज के जूते उठाकर अपने सिर पर रख लिये थे। कुछ लोग भगवान् के साथ एक हो जाने के लिये अथक प्रयत्न करते हैं, किन्तु हम तो इस स्थिति से भी आगे निकल सकते हैं—हम भगवान् के पिता बन सकते हैं। निस्सन्देह, भगवान् ही सब जीवों के पिता हैं, उनका कोई पिता नहीं है और न हो सकता है, किन्तु वे अपने भक्त, अपने प्रेमी को पिता के रूप में स्वीकार कर लेते हैं। प्रेमवश तो श्रीकृष्ण अपने भक्त से पराजित होना भी स्वीकार कर लेते हैं। बस व्यक्ति को तो केवल इतना ही करना है कि वह भगवत् संदेश को बहुत ध्यान से सुने।

भगवद्गीता के सत्रहवें अध्याय में श्रीकृष्ण अन्य उपाय बताते हैं, जिनके द्वारा हमें जीवन के पग पग पर उनकी अनुभूति हो सकती है:

पुण्योगंधः पृथिव्यां च तेजश्चास्मि विभावसौ।
जीवनं सर्वभूतेषु तपश्चास्मि तपस्विषु॥

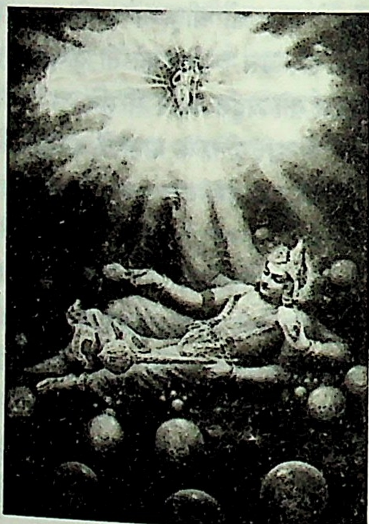
मैं पृथ्वी में मूलभूत सुगन्ध हूँ। अग्नि में उसकी ऊष्मा हूँ। समस्त भूत प्राणियों में उनका जीवन हूँ। और तपस्वियों का मैं तप हूँ।" (भगवद्गीता ७.९)

पुण्योगंधः शब्द से तात्पर्य है 'मूलभूत सुगंध'। स्वाद और सुगंध केवल श्रीकृष्ण ही उत्पन्न कर सकते हैं। हम कृत्रिम रूप से कुछ सुगंध

या खुशबू बना तो लेते हैं, किन्तु यह प्राकृतिक सुगन्ध जैसी उत्तम नहीं होती है। जब हम किसी अच्छी प्राकृतिक सुगंध को सूँघें, तो सोच सकते हैं "ओह! इसमें प्रभु का निवास है। इसमें श्रीकृष्ण हैं।" अथवा जब हम कोई प्राकृतिक सौन्दर्य देखें, तो हम सोच सकते हैं, "ओह! यहाँ श्रीकृष्ण हैं।" अथवा जब हम कोई असाधारण, शक्ति-सम्पन्न या आश्चर्यजनक वस्तु देखते हैं, तो हम सोच सकते हैं, "यहाँ श्रीकृष्ण हैं।" अथवा जब हम जीवन की कोई योनि देखते हैं, चाहे वह वृक्ष हो, पौधा हो, पशु हो या मानव प्राणी हो, तो हमें तुरन्त समझ लेना चाहिये कि यह जीव श्रीकृष्ण का ही एक अंश है, क्योंकि ज्योंही उस शरीर से चिन्मय चिंगारी, जो श्रीकृष्ण का अंश है, निकल जाती है त्योंही शरीर छिन्न-भिन्न हो जाता है।

बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम्।
बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम्॥

"हे अर्जुन, यह जान ले कि सम्पूर्ण प्राणियों का मूल बीज मैं ही हूँ, बुद्धिशाली व्यक्तियों की बुद्धि, और तेजस्वियों का तेज भी मैं ही हूँ।" (*भगवद्गीता* ७.१०)



यहाँ फिर से यह स्पष्ट कहा गया है कि श्रीकृष्ण सभी प्राणियों के जीवन-प्राण हैं। इस प्रकार हम पग-पग पर भगवान् के दर्शन कर सकते हैं। लोग पूछ सकते हैं कि क्या आप हमें भगवान् के दर्शन करा सकते हैं? हाँ, अवश्य; भगवान् के दर्शन कई प्रकार से हो सकते

हैं। किन्तु यदि कोई व्यक्ति अपनी आँखें ही बंद कर ले और कहे कि "मैं भगवान् को देखूंगा ही नहीं" तो उसे कैसे दिखाया जा सकता है?

उपर्युक्त श्लोक में *बीजम्* शब्द का अर्थ है, 'बीज' और इसे सनातन घोषित किया गया है। हम एक विशाल वृक्ष देख सकते हैं, किन्तु इस वृक्ष का मूल उद्‌गम क्या है? वह बीज ही है और वह सनातन है। अस्तित्व का कारण यह बीज हर एक जीव में विद्यमान है। शरीर अनेक परिवर्तनों से गुजरता है—माता के गर्भ में विकसित होता है, एक छोटे शिशु के रूप में जन्म लेकर बालक और तरुण के रूप में बढ़ता है, किन्तु उस अस्तित्व का जो बीज उसके भीतर है, वह स्थायी है। इसीलिए उसे 'सनातन' कहा गया है। हमारा शरीर अगोचर रूप से प्रतिक्षण परिवर्तित हो रहा है। किन्तु यह बीज, आध्यात्मिक स्फुलिंग, कभी नहीं बदलता। कृष्ण घोषित करते हैं कि वे ही सभी प्राणियों में बसे हुए शाश्वत बीज हैं। श्रीकृष्ण ही बुद्धिमान व्यक्ति की बुद्धि हैं। श्रीकृष्ण की कृपा के बिना कोई भी व्यक्ति असाधारण रूप से बुद्धिमान नहीं हो सकता। प्रत्येक व्यक्ति एक दूसरे से अधिक बुद्धिमान होने का प्रयत्न कर रहा है, किन्तु श्रीकृष्ण की कृपा के बिना यह संभव नहीं है। अतः जब भी हमें कोई असाधारण बुद्धिमान व्यक्ति मिले, तो हमें समझना चाहिए कि "यह असाधारण बुद्धि श्रीकृष्ण ही है। इसी प्रकार अत्यन्त प्रभावशाली पुरुष में जो प्रभाव दिखाई देता है, वह भी श्रीकृष्ण ही है।

बलं बलवतां चाहं कामरागविवर्जितम्।
धर्माविरूद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ॥

"हे भरतश्रेष्ठ अर्जुन! मैं बलवान् पुरुषों में आसक्ति और कामना से रहित बल हूँ। सम्पूर्ण प्राणियों में धर्म के अनुकूल काम भी मैं ही हूँ। (*भगवद्‌गीता* ७.११)

हाथी और वनमानुष बड़े बलवान् पशु हैं, और हमें समझना चाहिये कि इनकी शक्ति का स्रोत भी श्रीकृष्ण ही हैं। कोई भी मनुष्य अपने

प्रयत्न से ऐसी शक्ति प्राप्त नहीं कर सकता। किन्तु यदि श्रीकृष्ण की कृपा हो जाये, तो एक मनुष्य हाथी से सहस्रों गुणा अधिक शक्ति प्राप्त कर सकता है। कहा जाता है कि महान् योद्धा भीम, जो कुरुक्षेत्र के युद्ध में लड़ा था, दस हजार हाथियों का बल रखता था। इसी प्रकार मनुष्य में जो काम भाव है, यदि वह धर्म के प्रतिकूल नहीं है, तो उसे भी श्रीकृष्ण का रूप समझना चाहिए। यह कामभाव क्या है ? काम का सामान्य अर्थ मैथुन लिया जाता है, किन्तु यहाँ काम का अर्थ वह मैथुन है जो धार्मिक सिद्धान्तों के प्रतिकूल नहीं है। अर्थात् अच्छी सन्तान प्राप्त करने के लिए मैथुन। यदि कोई पुरुष अच्छी कृष्णभावनाभावित सन्तान को जन्म दे सके, तो वह हजारों बार सम्भोग कर सकता है। किन्तु यदि वह कुत्ते-बिल्लियों की मनोवृत्ति वाली सन्तान उत्पन्न करता है, तो उसका कामवासनापूर्ण जीवन धर्म के प्रतिकूल समझना चाहिए। धार्मिक और सभ्य समाज में विवाह का उद्देश्य यह है कि स्त्री-पुरुष सत् सन्तान उत्पन्न करने के लिए मैथुन करें। इसलिए विवाहित जीवन में काम-सेवन धार्मिक और अविवाहित जीवन में काम-सेवन अधार्मिक माना जाता है। वास्तव में यदि गृहस्थाश्रम का कामजीवन धर्मानुकूल हो, तो गृहस्थ और संन्यासी में कोई अंतर नहीं है।

ये चैव सात्त्विकाभावा राजसास्तामसाश्च ये।
मत्त एवेति तान् विद्धि न त्वहं तेषु ते मयि॥

सत्वगुण, रजोगुण और तमोगुण से उत्पन्न होने वाले सम्पूर्ण भाव मेरी शक्ति से ही प्रदर्शित होते हैं। ऐसा समझना चाहिए कि एक दृष्टिकोण से मैं सब कुछ हूँ, किन्तु मैं स्वतंत्र हूँ। मैं इस भौतिक प्रकृति के गुणों के अधीन नहीं हूँ। (*भगवद्गीता* ७.१२)

कोई श्रीकृष्ण से यह प्रश्न कर सकता है: "आप कहते हैं, मैं शब्द, जल, प्रकाश, सुगंध, सबका बीज, बल काम, इच्छा आदि हूँ, तो क्या

इसका तात्पर्य यह है कि आप केवल सत्त्वगुण में ही विद्यमान रहते हैं?" इस भौतिक जगत में सतोगुण, रजोगुण और तमोगुण तीनों हैं। अभी तक श्रीकृष्ण ने अपने आपको सतोगुण से उत्पन्न भावों में व्यक्त किया है (उदाहरणार्थ विवाहोपरान्त धर्मानुकूल काम में)। किन्तु अन्य दो गुणों, राजस और तामस, के विषय में क्या स्थिति है? क्या श्रीकृष्ण उनमें स्थित नहीं हैं? इसके उत्तर में श्रीकृष्ण कहते हैं कि इस भौतिक जगत में जो कुछ दिखायी दे रहा है, वह प्रकृति के इन्ही तीनों गुणों की अन्त:क्रिया का परिणाम है। यहाँ जो कुछ भी अनुभव किया जा सकता है, वह सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण का ही समुच्चय है। तथा श्रीकृष्ण स्वयं कहते हैं, "सभी स्थितियों में इन तीन गुणों की उत्पत्ति मेरे द्वारा होती है। चूँकि श्रीकृष्ण इन तीनों गुणों के स्रष्टा हैं, इसलिए इन गुणों की स्थिति श्रीकृष्ण में है, किन्तु श्रीकृष्ण उनमें स्थित नहीं हैं, क्योंकि श्रीकृष्ण इन तीन गुणों से परे हैं। इस प्रकार दूसरे अर्थ में तामसी असद्वृत्ति या पदार्थ भी, जो अज्ञान से उत्पन्न होते हैं, जब कृष्णभावना में प्रयुक्त होते हैं तो कृष्ण रूप ही हो जाते हैं। यह कैसे? उदाहरणार्थ, एक विद्युत अभियन्ता (इंजीनियर) बिजली निर्माण करता है। अपने घरों में हमें इस विद्युत-शक्ति का अनुभव फ्रिज यंत्र में ठण्डक के रूप में और बिजली के चूल्हे में गर्मी के रूप में होता है, किन्तु ऊर्जा के उत्पत्ति-स्थल (बिजलीघर) में विद्युत शक्ति न ठण्डी है न गर्म। अन्य प्राणियों के लिए इस शक्ति की अभिव्यक्ति भिन्न-भिन्न प्रकार से हो सकती है, किन्तु श्रीकृष्ण के लिए वह भिन्न नहीं है। इसीलिए हमें कभी कभी ऐसा लगता है कि श्रीकृष्ण रजोगुण और तमोगुण के सिद्धान्तों में लिप्त होकर कार्य कर रहे हैं, किन्तु श्रीकृष्ण के लिए वह कृष्ण के अतिरिक्त और कुछ नहीं होता, जैसाकि विद्युत अभियन्ता के लिए विद्युत शक्ति केवल विद्युत शक्ति है और कुछ नहीं। वह इस प्रकार का भेद नहीं करता कि यह "ठंडी बिजली" है, आरै वह "गर्म बिजली" है।

प्रत्येक पदार्थ की उत्पत्ति श्रीकृष्ण से होती है। वास्तव में वेदान्तसूत्र पुष्टि करता है—*"अथातो ब्रह्मजिज्ञासा, जन्माद्यस्य यत:।"* प्रत्येक वस्तु का उद्भव भगवान् से होता है। जीव जिसे अच्छा या बुरा मानते हैं, वह सिर्फ उसके लिए ऐसा होता है, क्योंकि वे बद्धजीव हैं। किन्तु कृष्ण बद्ध नहीं हैं, अतः उनके लिए अच्छे बुरे का प्रश्न ही नहीं उठता। हम जीव बद्धात्माएँ हैं, अतः हम द्वन्द्व भावना से ग्रस्त हैं, पर कृष्ण के लिए सब कुछ परिपूर्ण है।•

४

मूढ़ और ज्ञानी के मार्ग

इस प्रकार कृष्ण अपने यथार्थ स्वरूप का वर्णन कर रहे हैं। किन्तु हम फिर भी उनकी ओर आकृष्ट नहीं होते। ऐसा क्यों? इसका कारण श्रीकृष्ण स्वयं बताते हैं:

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥

"भौतिक प्रकृति के तीन गुणों से बनी मेरी इस दैवी शक्ति को पार कर पाना कठिन है। किन्तु जो मेरे शरणागत हो जाते हैं, वे सरलता से उसे पार कर जाते हैं। (*भगवद्गीता* ७.१४)

यह भौतिक जगत प्रकृति के तीन गुणों से आच्छादित है। प्रत्येक प्राणी इन गुणों से प्रभावित है। जब वे प्रधानतया सतोगुण के अधीन होते हैं, तो वे ब्राह्मण कहलाते हैं। यदि वे रजोगुण-प्रधान होते हैं, तो क्षत्रिय कहलाते हैं। यदि वे रजोगुण और तमोगुण के अधीन होते हैं, तो वैश्य कहलाते हैं। और यदि वे केवल तमोगुण-प्रधान होते हैं, तो वे शूद्र कहलाते हैं। यह केवल जन्म और सामाजिक स्थिति के अनुसार कृत्रिम रूप से थोपा गया पद नहीं है, अपितु उस गुण के कारण है, जिसके अधीन होकर प्राणी कर्म करता है:

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुण-कर्मविभागशः।
तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम्॥

"भौतिक प्रकृति के तीन गुणों और कर्तव्य कर्मों के विभाजन के अनुसार मैंने मानव समाज के चार वर्णों की रचना की है। यद्यपि इस

प्रणाली का निर्माता मैं ही हूँ, फिर भी मुझ अविनाशी को तुम इस वर्ण-विभाग का अकर्ता ही समझो।" (*भगवद्गीता* ४.१३)

इस से यह नहीं समझना चाहिए कि यह भारतवर्ष में विद्यमान विकृत जातिप्रथा का निर्देश कराता है। श्रीकृष्ण ने स्पष्ट रूप से कहा है: *गुणकर्मविभागश:* मनुष्य जाति का वर्गीकरण उन गुणों के अनुसार किया गया है, जिनके अधीन वे कर्म करते हैं, और यह सिद्धान्त सारे ब्रह्मांड के मनुष्यों पर चरितार्थ होता है। जब श्रीकृष्ण कुछ कहते हैं, तो हमें समझ लेना चाहिए कि वे जो कुछ कहते हैं, वह सीमित स्थान के लिए नहीं होता, अपितु विश्वव्यापी सत्य होता है। वे स्वयं को सब जीवों का पिता कहते हैं—पशु, पक्षी, जलचर, वृक्ष-पौधे, कीड़े, कीट, पतंग, सभी उनकी सन्तति कहे जाते हैं। श्रीकृष्ण घोषणा करते हैं कि समस्त ब्रह्माण्ड भौतिक प्रकृति के तीन गुणों की अन्त:क्रिया से मोहित है और हम भी उसी माया के वश में हैं; अत: हम यह नहीं समझ पाते कि भगवान् क्या हैं।

इस माया का स्वरूप क्या है, और इसे कैसे पार किया जा सकता है? यह भी *भगवद्गीता* में स्पष्ट कर दिया गया है।

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥

"भौतिक प्रकृति के तीन गुणों से बनी मेरी इस दैवी शक्ति को पार कर पाना कठिन है। किन्तु जो मेरे शरणागत हो जाते हैं, वे सरलता से उसे पार कर जाते हैं।" (*भगवद्गीता* ७.१४)

कोई मनुष्य शुष्क चिन्तन से भौतिक प्रकृति के इन तीन गुणों के बन्धन से छुटकारा नहीं पा सकता। ये तीनों गुण बड़े ही बलवान् और दुर्जय हैं। क्या हम अनुभव नहीं करते कि हम बुरी तरह से भौतिक प्रकृति के चंगुल में फंसे हुए हैं? 'गुण' शब्द का अर्थ रस्सी भी होता है। जब कोई व्यक्ति तीन मजबूत रस्सियों से बँधा हो, तो वह निश्चय ही

बहुत कस कर बँधा होगा। हमारे हाथ पैर सतोगुण, रजोगुण और तमोगुण की सुदृढ़ रस्सियों से बँधे हुए हैं। तो क्या हम आशा छोड़ बैठें? नहीं, क्योंकि यहाँ श्रीकृष्ण हमें आश्वासन देते हैं कि जो कोई उनकी शरण में आ जाता है, वह तुरन्त ही मुक्त हो जाता है। जब कोई व्यक्ति किसी तरह भी कृष्णभावनाभावित हो जाता है, तो वह मुक्त हो जाता है।

हम सब कृष्ण से सम्बंद्धित हैं, क्योंकि हम सब उनकी सन्तान हैं। एक पुत्र अपने पिता से किसी बात पर असहमत हो सकता है, किन्तु उसके लिए वह सम्बन्ध तोड़ना सम्भव नहीं है। अपने जीवन में उससे निश्चय ही पूछा जायेगा कि वह कौन है, और उसे निश्चय ही उत्तर देना पड़ेगा कि "मैं अमुक का पुत्र हूँ।" वह सम्बन्ध तोड़ा नहीं जा सकता। इसी प्रकार हम सब भगवान् की सन्तान हैं, और उनसे हमारा यह सम्बन्ध सनातन है, किन्तु हम केवल इसे भूल गये हैं। श्रीकृष्ण सर्वशक्तिमान हैं, सब से ज्यादा कीर्तिवान् हैं, सब से धनवान है, सबसे सुन्दर हैं, सर्वज्ञ हैं और अतिशयी वैराग्यवान् भी हैं। यद्यपि हम इतने महान् व्यक्तित्त्व के मित्र हैं, तथापि हम इस बात को भूले हुए हैं। यदि एक धनी व्यक्ति का पुत्र अपने पिता को भूल जाता है, अपना घर छोड़ देता है और पागल हो जाता है, तो सोने के लिए भले ही वह सड़क पर लेट जाये, भोजन के लिए भिक्षा माँगे, लेकिन यह सब उसकी विस्मृति के कारण है। किन्तु यदि कोई व्यक्ति उस भूले हुए व्यक्ति को यह बता दे कि वह केवल इसलिए दुख भोग रहा है कि उसने अपने पिता का घर छोड़ दिया है और यह कि उसका पिता एक बहुत धनी व्यक्ति और विशाल सम्पत्ति का स्वामी है और इस बिछड़े हुए पुत्र को फिर से पाने के लिए उत्सुक है, तो उस पुत्र को बहुत लाभ हो सकता है।

इस भौतिक जगत में हम सदैव त्रिविध तापों से दुखी होते रहते हैं—अपने मन तथा शरीर से उत्पन्न होने वाले दुख, दूसरी जीवात्माओं

से होने वाले दुख और भौतिक प्रकोपो (जैसे बाढ़, भूकम्प इत्यादि) से प्राप्त दुख। भौतिक प्रकृति के तीन गुणों के वशीभूत होने के कारण हम इन दुखों से बेसुध हैं। किन्तु हमें सदैव जानना चाहिए कि इस भौतिक जगत में हम इतना दुख भोग रहे हैं। जिस व्यक्ति की चेतना पर्याप्त रूप से विकसित है और जो बुद्धिमान है, वह प्रश्न करता है कि वह क्यों दुखी है? "दुख तो मैं चाहता नहीं, तो फिर मैं क्यों दुखी हूँ?" जब यह प्रश्न उठता है, तो मनुष्य के लिए कृष्णभावनाभावित होने का सुअवसर आता है।

जैसे ही हम श्रीकृष्ण की शरण में जाते हैं, कृष्ण हमारा हार्दिक स्वागत करते हैं। ठीक एक खोये हुए बालक के समान जो अपने पिता के पास लौटने पर उससे कहता है—"मेरे प्रिय पिताजी, कुछ गलतफहमियों के कारण मैंने आपकी छत्रछाया को छोड़ दिया था, पर मैंने बहुत दुख उठाया है। अब मैं आपके पास लौट आया हूँ।" पिता अपने पुत्र को गले से लगाकर कहता है—"मेरे प्रिय पुत्र! आओ, जब से तुम बिछड़े हो, मैं तुम्हारे लिए बहुत व्याकुल था। अब तुम लौट आये हो तो मैं बहुत प्रसन्न हूँ।" पिता इतना कृपालु है। हम भी ठीक इसी स्थिति में हैं। हमें भी कृष्ण के शरणागत होना है, और यह कोई बहुत कठिन कार्य नहीं है। जब एक पुत्र अपने पिता के प्रति आत्म-समर्पण करता है, तब क्या यह एक बहुत कठिन कार्य है? यह एक नितान्त स्वाभाविक बात है और पिता सदैव अपने पुत्र का स्वागत करने के लिए तैयार रहता है। इसमें अपमान का कोई प्रश्न नहीं होता। यदि हम अपने परम पिता के समक्ष नतमस्तक होकर उसके चरणों को छुएँ, तो न तो हमें कोई हानि है, और न यह कुछ कठिन है। वास्तव में, यह हमारे लिए गौरव की बात है। हम ऐसा क्यों न करें? कृष्ण की शरण में जाने से हम तुरन्त उनकी सुरक्षा में आ जाते हैं, और समस्त तापों से छुटकारा पा जाते हैं। सारे शास्त्र इस बात का समर्थन करते हैं। गीता के अन्त में

श्रीकृष्ण कहते है:

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥

"सब धर्मों को छोड़कर तुम केवल मेरी शरण में आ जाओ। मैं तुम्हें समस्त पापों से मुक्त कर दूंगा, शोक मत करो।" (*भगवद्गीता* १८.६६)

जब हम अपने को भगवान् की शरण में अर्पित कर देते हैं, तो हम उनके संरक्षण में आ जाते हैं, और उस समय से हमें किसी प्रकार का भय नहीं रहता। जब बालक अपने माता पिता की सुरक्षा में होते हैं, तो वे निर्भय होते हैं क्योंकि वे जानते हैं कि उनके माता-पिता उन्हें कोई हानि नहीं पहुँचने देंगे। *मामेव ये प्रपद्यन्ते*—कृष्ण प्रतिज्ञा करते हैं कि जो उनकी शरण में आ जाता है, उसके लिए भय का कोई कारण नहीं रहता।

यदि कृष्ण की शरण में आ जाना इतना सरल कार्य है, तो लोग ऐसा करते क्यों नहीं? उल्टे, अनेक लोग ईश्वर के अस्तित्व को ही चुनौती देते हैं और दावा करते हैं कि प्रकृति और विज्ञान ही सब कुछ है, भगवान् कुछ नहीं। ज्ञान में सभ्यता की ऐसी तथाकथित प्रगति का अर्थ यह है कि लोग अधिकाधिक पागल होते जा रहे हैं। रोग निर्मूल होने के स्थान पर अधिकाधिक बढ़ता जा रहा है। लोग ईश्वर की चिन्ता नहीं कर रहे हैं, प्रकृति की चिन्ता कर रहे हैं; और प्रकृति का यही कार्य है कि त्रिविध तापों के रूप में उन्हें दुलत्ती मारना। प्रकृति नित्य चौबीसों घण्टे ये आघात कर रही है। किन्तु हम इन लातों के इतने अभ्यस्त हो गये हैं कि हम समझते हैं कि यह ठीक है और उसे घटनाओं का स्वाभाविक क्रम ही मानते हैं। हम अपनी शिक्षा पर बहुत गर्व करते हैं किन्तु हम भौतिक प्रकृति से कहते हैं, "मुझ पर लातें जमाने के लिए मैं तुम्हारा बहुत कृतज्ञ हूँ। कृपया इसे जारी रखो।" इस प्रकार भ्रांत होकर हम

सोचते हैं कि हमने इस भौतिक प्रकृति को भी जीत लिया है। किन्तु ऐसा क्यों है? प्रकृति अब भी हम पर जन्म, मृत्यु, जरा और व्याधि के आघात कर रही है। क्या किसी ने इन समस्याओं को सुलझाया है? तो बताइये हमने ज्ञान और सभ्यता में क्या प्रगति की है? हम भौतिक प्रकृति के कठोर नियमों के अधीन हैं, किन्तु अब भी हम सोचते हैं कि हमने इसे जीत लिया है। यही माया कहलाती है।

इस शरीर के पिता के शरणागत होने में कुछ कठिनाइयाँ हो भी सकती हैं, क्योंकि उन का ज्ञान और शक्ति सीमित हैं, किन्तु कृष्ण साधारण पिता के समान नहीं हैं। कृष्ण अनन्त हैं और वे षड् ऐश्वर्य से सम्पन्न हैं—उनमें पूर्ण ज्ञान, पूर्ण शक्ति, पूर्ण ऐश्वर्य, पूर्ण सौंदर्य, पूर्ण यश और पूर्ण वैराग्य हैं। क्या हमें ऐसे महान् पिता की शरण में जाने और उनके ऐश्वर्य का आनन्द लेने पर स्वयं को भाग्यशाली नहीं समझना चाहिए? किन्तु लगता है कि कोई भी इस ओर ध्यान नहीं दे रहा है और अब प्रत्येक व्यक्ति यही प्रचार कर रहा है कि ईश्वर है ही नहीं। लोग ईश्वर की खोज क्यों नहीं करते? इसका उत्तर गीता के इस श्लोक में दिया गया है:

न मां दुष्कृतिनो मूढा: प्रपद्यन्ते नराधमा:।
माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिता:॥

"जो निपट मूर्ख हैं, जो मनुष्यों में अधम हैं, जिनका ज्ञान माया द्वारा हर लिया गया है तथा जो असुरों की नास्तिक प्रकृति को धारण किए हुए हैं, ऐसे दुष्ट मेरी शरण ग्रहण नहीं करते।" (*भगवद्गीता* ७.१५)

इस प्रकार मूढ़ लोगों का श्रेणी-विभाजन किया गया है। *दुष्कृती* व्यक्ति सदैव शास्त्राज्ञा के विपरीत आचरण करता है। वर्तमान सभ्यता का एकमात्र कार्य बस शास्त्र-नियमों को भंग करना है। परिभाषा के अनुसार सुकृती वह है जो शास्त्र-नियमों को भंग नहीं करता। दुष्कृती (दुष्ट कार्य करने वाला) और सुकृती (गुणवान् मनुष्य) में अन्तर करने के लिए

कुछ माप-दन्ड होना चाहिए। प्रत्येक सभ्य देश का अपना कुछ शास्त्र होता है। यह शास्त्र चाहे ईसाई हो, हिन्दू हो, मुस्लिम हो, या बौद्ध, इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता। विशेष बात यह है कि सभी धर्मों में शास्त्र की पुस्तक विद्यमान है। जो व्यक्ति शास्त्र के सिद्धान्तों पर नहीं चलता, उसे अपराधी समझा जाता है।

इस श्लोक में उक्त एक अन्य श्रेणी है *मूढ़*—प्रथम कोटि का मूर्ख। *नराधम* वह है जो मनुष्यता से गिरा हुआ है। *माययापहृतज्ञाना* से तात्पर्य उस व्यक्ति से है जिसका ज्ञान माया के द्वारा अपहृत कर लिया गया है। *आसुरं भावम् आश्रिताः* से तात्पर्य उन लोगों से है, जो पूर्णतया नास्तिक हैं। यद्यपि परम पिता की शरण लेने में कभी कोई हानि नहीं है, किन्तु जो लोग उपर्युक्त वृत्ति वाले हैं, वे ऐसा कभी नहीं करते। फलतः वे परम पिता के सेवकों द्वारा निरन्तर दण्डित किये जाते हैं। उन्हें थप्पड़ चाँटे लगाने पड़ते हैं, बेंत लगाने पड़ते हैं, लातें जमानी पड़ती हैं और उन्हें बहुत दुख उठाना पड़ता है। जैसे एक पिता को अपने उद्दण्ड बालक को दण्ड देना पड़ता है, वैसे ही भौतिक प्रकृति कुछ दण्ड का विधान करना पड़ता है। साथ ही प्रकृति अन्न और अन्य आवश्यक पदार्थ देकर हमारा पालन पोषण भी कर रही है। ये दोनों प्रक्रियाएँ साथ साथ चल रही हैं क्योंकि हम सबसे अधिक धनवान पिता के पुत्र हैं, और यद्यपि हम कृष्ण की शरण नहीं लेते तब भी वे हम पर कृपा करते हैं। परम पिता द्वारा इतनी उत्तम रीति से परिपालित होने पर भी एक दुष्कृती नियम विरुद्ध कर्म करता रहता है। वह व्यक्ति मूढ़ ही है जो दण्डित होने पर तुला हुआ है और वह नराधम ही है जो इस मनुष्य देह और जीवन को कृष्ण को समझने में प्रयुक्त नहीं करता। यदि कोई मानव अपने इस जीवन का उपयोग अपने वास्तविक पिता के साथ सम्बन्ध को पुनः जाग्रत करने में नहीं करता तो उसे मनुष्यता से गिरा हुआ ही समझना चाहिए।

पशुवर्ग केवल आहार, निद्रा, आत्मरक्षा तथा मैथुन में संलग्न रहकर मर जाता है। वे उच्चतर चेतना से लाभ नहीं लेते, क्योंकि यह निम्न प्रकार की जीव योनियों में सम्भव नहीं है। यदि एक मनुष्य पशु जाति के कर्मों में लिप्त रहे और अपनी योग्यता का उपयोग उच्चतर चेतना को जाग्रत करने में न करे तो वह मनुष्य के मान-दण्ड से गिर कर आगामी जीवन में पशु शरीर धारण करने को ही अभिशप्त हो जाता है। श्रीकृष्ण की कृपा से हमें एक अत्यंत विकसित शरीर और बुद्धि प्राप्त हुई है, किन्तु यदि हम उनका उपयोग ही न करें तो वे हमें उन्हें दुबारा क्यों देंगे? हमें समझ लेना चाहिए कि यह मनुष्य शरीर कई लाख वर्षों के विकास क्रम की देन है, और यह अपने आप में जन्म-मृत्यु के चक्र से, जिसमें ८० लाख से अधिक योनियाँ हैं, छूटने का एक सुखद अवसर है। यह अवसर श्रीकृष्ण की कृपा से दिया गया है और यदि हम इस अवसर को न लें, तो क्या हम अधम नहीं हैं? कोई किसी विश्वविद्यालय से उपाधि प्राप्त कर सकता है—एम.ए., पीएच.डी., इत्यादि—परन्तु यह माया शक्ति इस भौतिक ज्ञान को हर लेती है। जो वास्तव में बुद्धिमान है, वह अपनी बुद्धि को यह जानने में लगाएगा कि वह कौन है, भगवान् कौन हैं, भौतिक प्रकृति क्या है, वह भौतिक जगत में क्यों कष्ट भोग रहा है और इस कष्ट का उपाय क्या है?

हम अपनी बुद्धि से कार, रेडियो या टेलिविजन बनाने में काम ले सकते हैं जिससे हमारी इन्द्रियतृप्ति हो, परन्तु हमें समझना चाहिए कि यह ज्ञान नहीं है। बल्कि, यह चुराई हुई बुद्धि है। मनुष्य को बुद्धि जीवन की समस्यों को समझने के लिए दी गयी थी, परन्तु उसका दुरुपयोग हो रहा है। लोग यह सोच रहे हैं कि उन्होंने कार बनाना व चलाना सीख लिया है इसलिए उन्होंने ज्ञान प्राप्त कर लिया है, परन्तु जब कार नहीं बनी थी तब भी लोग एक स्थान से दूसरे स्थान पर आते-जाते थे। सिर्फ उस सुविधा को और अच्छा कर दिया गया है, परन्तु उस सुविधा के

साथ अतिरिक्त समस्याएँ भी आ गयी हैं, जैसे कि हवा प्रदूषण तथा रास्तो का खचाखच भरे होना। यह माया है; हम कुछ सुविधाएँ बना रहे हैं, लेकिन यह सुविधाएँ खुद बाद में अनेक समस्याएँ पैदा करती हैं।

हमारी शक्ति को इतनी सारी सुविधाओं और आधुनिक सुख-साधन को पाने में लगाने के बजाय हमें अपनी बुद्धि को यह समझने में लगाना चाहिए कि हम कौन और क्या हैं? हम कष्ट भोगना नहीं चाहते, परन्तु हमें समझना चाहिए कि ये कष्ट हमारे ऊपर क्यों थोपे जा रहे हैं। इस तथाकथित ज्ञान से हम सिर्फ परमाणु बम बनाने में सफल हुए हैं। इससे केवल हिंसा की क्रिया ही तीव्र हुई है। हम बड़े अभिमान के साथ सोचते हैं कि यह ज्ञान की प्रगति है, किन्तु यदि हम ऐसा आविष्कार कर सकें जिससे मृत्यु को रोका जा सके, तो समझना चाहिए कि हम वास्तव में ज्ञान में आगे बढ़े हैं। मृत्यु तो भौतिक प्रकृति में पहले से ही उपस्थित है, किन्तु हम तो एक ही धमाके में सबका संहार करके मृत्यु को बढ़ावा देने को उत्सुक हैं। यही *माययापहृतज्ञान* अर्थात् माया के द्वारा अपहृत ज्ञान कहलाता है।

असुर और पक्के अनीश्वरवादी लोग ईश्वर को वस्तुतः चुनौती देते हैं। यदि परम पिता परमेश्वर की कृपा न होती, तो हम दिन का प्रकाश भी न देख सकते। फिर ईश्वर के अस्तित्व को चुनौती देने का औचित्य क्या है? वेदों में मानव समाज के दो वर्ग बताये गये हैं—देव और असुर। देव कौन हैं? परमेश्वर के भक्त देव कहलाते हैं क्योंकि वे स्वयं ईश्वर जैसे बन जाते हैं। इसके विपरीत जो लोग ईश्वर के अधिकार को चुनौती देते हैं, वे असुर कहलाते हैं। मानव समाज में ये दो वर्ग सदा से पाये जाते हैं।

जिस प्रकार चार प्रकार के दुष्ट जन होते हैं, जो कभी कृष्ण की शरण नहीं लेते, उसी प्रकार चार प्रकार के भाग्यवान् जन होते हैं जो उनकी पूजा करते हैं। उनको आगे के श्लोक में चार श्रेणियों में

विभाजित किया गया है:

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ॥

"हे भरतश्रेष्ठ (अर्जुन), चार प्रकार के सुकृती जन मुझको भजते हैं—आर्त (दुखी), जिज्ञासु (जानने की इच्छा वाला), अर्थार्थी (सम्पत्ति का इच्छुक) और ज्ञानी (जो परम के ज्ञान की खोज में है)।" (*भगवद्गीता* ७.१६)

यह भौतिक जगत दुखपूर्ण है और पुण्यात्मा एवं पापी दोनों पर ही उसका प्रभाव रहता है। शीतऋतु की ठण्डक का प्रभाव सब पर समान होता है। वह पुण्यात्मा या पापी और धनी या निर्धन में भेद नहीं करता। किन्तु पुण्यात्मा और पापी में बस यही अन्तर है कि पुण्यात्मा का ध्यान दुख की स्थिति में ईश्वर की ओर जाता है। जब कोई व्यक्ति दुखी होता है, तो प्रायः वह गिरजाघर या मन्दिर में जाता है और प्रार्थना करता है—"हे प्रभो! मैं संकट में हूँ, कृपया मेरी सहायता कीजिए।" यद्यपि वह किसी भौतिक आवश्यकतावश ईश्वर का स्मरण करता है तथापि ऐसे व्यक्ति को पुण्यात्मा ही समझना चाहिए, क्योंकि दुख में ही सही परन्तु उसने ईश्वर को याद तो किया। इसी प्रकार एक निर्धन व्यक्ति गिरजाघर या मन्दिर में जाकर प्रार्थना करता है—"मेरे प्रभो! कृपया मुझे कुछ धन दीजिए।" दुसरी ओर जिज्ञासु व्यक्ति प्रायः बुद्धिमान होते हैं। वे चीजों को समझने के लिए हमेशा वैज्ञानिक शोध करते रहते हैं। वे पूछते हैं, "ईश्वर क्या है?" और फिर इसका उत्तर ढूँढने के लिए वैज्ञानिक अनुसंधान करते हैं। ऐसे जिज्ञासु भी पुण्यात्मा माने जाते हैं, क्योंकि उनका शोध उचित उद्देश्य की ओर उन्मुख है। जिसने अपनी स्वरूप स्थिती को तत्त्वतः समझ लिया है, वह ज्ञानी कहलाता है। ऐसा ज्ञानी चाहे निर्गुण निराकार ब्रह्म की परिकल्पना करे, किन्तु सर्वोच्च परम सत्य के शरणागत होने के कारण उसे भी पुण्यात्मा ही मानना चाहिए। इस

प्रकार उपर्युक्त चारों प्रकार के व्यक्ति सुकृती अर्थात् पुण्यात्मा ही हैं, क्योंकि ये सब ईश्वरवादी हैं।

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एक-भक्तिर्विशिष्यते।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः॥

"इनमें से जो परम ज्ञानी है और शुद्ध भक्ति करता हुआ मुझसे जुड़ा रहता है, वह सर्वश्रेष्ठ है क्योंकि उसे मैं बहुत प्रिय हूँ और वह मुझे बहुत प्रिय है।" (*भगवद्गीता* ७.१७)

ईश्वर को भजने वाले उक्त चारों श्रेणी के मनुष्यों में जो मनुष्य दार्शनिक दृष्टि से ईश्वर का स्वभाव समझने का प्रयत्न करता है और साथ ही कृष्णभावनाभावित होने के लिए भी प्रयत्नशील है—*विशिष्यते*—वही सर्वश्रेष्ठ है। श्रीकृष्ण कहते हैं कि वास्तव में ऐसा व्यक्ति उन्हें बहुत प्रिय है, क्योंकि उसे ईश्वर को जानने के अतिरिक्त कोई और कार्य ही नहीं है। अन्य तीन उस से निम्न हैं। किसी को ईश्वर से कुछ मांगने के लिए प्रार्थना नहीं करनी पड़ती है और जो ऐसा करता है वह मूर्ख है, क्योंकि वह यह नहीं जानता कि सर्वज्ञ प्रभु उसके हृदय में स्थित हैं और वे भली-भाँति जानते हैं कि उनका भक्त कब संकट में है या कब उसे धन की आवश्यकता है। बुद्धिमान व्यक्ति यह इस बात की अनुभूति करता है और भौतिक दुखों से छुटकारा पाने के लिए प्रभु से प्रार्थना नहीं करता। इसके विपरीत वह प्रभु की महिमा का गान करने के लिए प्रार्थना करता है और दूसरों को भी बताता है कि प्रभु कितने महान् हैं। वह अपने व्यक्तिगत स्वार्थ अर्थात् रोटी, कपड़ा और मकान के लिए प्रभु से प्रार्थना नहीं करता। सच्चा भक्त जब दुख में होता है, तब वह कहता है, 'हे प्रभो, यह आपकी कृपा है। आपने केवल मुझे सुधारने के लिए यह दुख दिया है। वैसे तो मुझे इससे कहीं अधिक दुख मिलना चाहिए था, किन्तु आपने अपनी सहज कृपा से इसे बहुत कम कर दिया है।" यह एक ऐसे सच्चे भक्त की दृष्टि है जो उद्विग्न नहीं होता।

जो व्यक्ति कृष्णभावनाभावित होता है, वह भौतिक कष्टों, अपमान अथवा सम्मान की चिन्ता नहीं करता, क्योंकि वह इन सबसे परे होता है। वह भली-भाँति जानता है कि दुख और मान-अपमान का सम्बन्ध केवल शरीर से है, और वह शरीर नहीं है। उदाहरण के लिए सुकरातसे, जो आत्मा की अमरता में विश्वास रखता था, जब उसे मृत्यु दण्ड की सजा घोषित हुई। और यह पूछा गया कि उसे कैसे दफनाया जाये, तो उसने उत्तर दिया "सबसे पहले तुम्हें मुझे पकड़ना होगा।" अतः जो व्यक्ति यह जानता है कि वह शरीर नहीं है, वह उद्विग्न नहीं होता, क्योंकि वह जानता है कि आत्मा को पकड़ा नहीं जा सकता, न उसे कष्ट दिया जा सकता है, न मारा जा सकता है और न दफनाया जा सकता है। जो व्यक्ति श्रीकृष्ण के विज्ञान से परिचित है, वह पूर्णतया जानता है कि वह शरीर नहीं है और वह श्रीकृष्ण का अंश है, और उसका वास्तविक सम्बन्ध कृष्ण के साथ है, और यद्यपि किसी कारणवश उसे यह भौतिक शरीर मिल गया है, तथापि उसे भौतिक प्रकृति के तीनों गुणों से दूर रहना है। उसका सम्बन्ध सत्त्व, रज और तम के गुणों से नहीं अपितु श्रीकृष्ण से है। जो इस रहस्य को समझता है, वही ज्ञानी है और वह कृष्ण को अति प्रिय है। एक दुखी व्यक्ति को यदि सम्पन्नता प्राप्त हो जाये, तो वह शायद ईश्वर को भूल जायेगा, किन्तु एक ज्ञानी, जो ईश्वर के स्वरूप को जानता है, उन्हें कभी नहीं भूलेगा।

ज्ञानियों की एक श्रेणी निराकारवादियों की है, जो कहते हैं कि निर्गुण ब्रह्म की उपासना करनी अति कठिन है, अतः ईश्वर के किसी स्वरूप की कल्पना करना अनिवार्य है। ये वास्तविक ज्ञानी नहीं हैं—वे मूर्ख हैं। कोई भी व्यक्ति ईश्वर के स्वरूप की कल्पना नहीं कर सकता है, क्योंकि ईश्वर अत्यन्त महान् हैं। कोई व्यक्ति किसी स्वरूप की कल्पना तो कर सकता है, किन्तु यह मनगढ़ंत होगा, यह वास्तविक स्वरूप नहीं होगा। लोग दो प्रकार के हैं, एक वे जो ईश्वर के स्वरूप की कल्पना

करते हैं, दूसरे वे जो उसके किसी स्वरूप को स्वीकार नहीं करते हैं। इन दोनों में से कोई ज्ञानी नहीं है। जो लोग ईश्वर के स्वरूप की कल्पना करते हैं, वे मूर्तिपूजा के विरोधी कहलाते हैं। भारत में हिन्दू-मुस्लिम दंगो के दौरान कुछ मुस्लिम लोग हिन्दू मंदिरों में जाकर भगवान् की प्रतिमाएँ और मूर्तियाँ तोड़ते थे। हिन्दू लोग भी ऐसी ही प्रतिक्रिया व्यक्त करते थे। इस प्रकार दोनों सोचते थे—"हमने हिन्दू ईश्वर को मार डाला, हमने मुस्लिम ईश्वर को मार डाला आदि।" इसी प्रकार जिस समय गांधीजी अपने सत्याग्रह आन्दोलन का नेतृत्व कर रहे थे, तब बहुत से भारतीय सड़कों पर निकल कर पत्र-पेटियों (लैटरबॉक्स) को नष्ट कर देते थे, और इस प्रकार समझते थे कि वे सरकार की डाकसेवा को नष्ट कर रहे हैं। इस प्रकार की मनोवृत्तियों वाले लोग ज्ञानी नहीं हैं। हिन्दू-मुसलमानों और ईसाइयों-गैर-ईसाइयों के बीच हुए सब धर्म-युद्ध अज्ञान से प्रेरित थे। जो व्यक्ति ज्ञानवान् है, वह जानता है कि ईश्वर तो एक ही है; वह हिन्दू, मुस्लिम या ईसाई नहीं हो सकता।

यह हमारी कल्पना है कि ईश्वर ऐसे हैं, वैसे हैं; यह सब कोरी कल्पना है। सच्चा ज्ञानी जानता है कि ईश्वर दिव्य हैं। जो यह जानता है कि ईश्वर भौतिक प्रकृति के तीनों गुणों से परे हैं, वही ईश्वर को तत्त्वतः जानता है। ईश्वर सदा हमारे पास, हमारे हृदय में उपस्थित हैं। जब हम शरीर छोड़ते हैं, तब ईश्वर भी हमारे साथ जाते हैं और जब हम दूसरा शरीर धारण करते हैं, तब भी ईश्वर केवल यह देखने के लिए हमारे साथ आते हैं कि हम क्या कर रहे हैं। हम आखिर कब उनकी ओर उन्मुख होंगे? वे सदा यही प्रतीक्षा कर रहे हैं। ज्योंही हम ईश्वर की ओर उन्मुख होते हैं, वे कहते हैं, "मरे प्रिय पुत्र! आओ, *स च मम प्रियः*—तुम सदा से मुझे प्रिय हो। मुझे प्रसन्नता है कि अब तुम मेरी ओर उन्मुख हो रहे हो।"

ज्ञानी पुरुष ईश्वर के विज्ञान को यथार्थ रूप से समझता है। जो

व्यक्ति केवल इतना समझता है कि, "ईश्वर अच्छे हैं" वह प्राथमिक स्तर पर है, किन्तु जो व्यक्ति वस्तुतः यह समझता है कि ईश्वर कितने महान् और अच्छे हैं, वह और आगे बढ़ता है। वह ज्ञान *श्रीमद्भागवत* और *भगवद्गीता* से प्राप्त हो सकता है। जो व्यक्ति सचमुच ईश्वर के विषय में जिज्ञासु हो, उसे ईश्वर के विज्ञान—*भगवद्गीता*—का अध्ययन करना चाहिए।

इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे।
ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्॥



"हे अर्जुन! चूँकि तुम मुझसे कभी ईर्ष्या नहीं करते, इसलिए मैं तुम्हें यह परम गुह्य ज्ञान तथा अनुभूति बतलाऊँगा, जिसे जानकर तुम संसार के सारे क्लेशों से मुक्त हो जाओगे।" (*भगवद्गीता* ९.१)

भगवद्गीता में दिया गया ज्ञान अत्यन्त सूक्ष्म व गुह्य है। यह ज्ञान तात्त्विक ज्ञान और विज्ञान से भरा हुआ है। और यह रहस्यमय भी है। कोई इस ज्ञान को कैसे समझ सकता है? यह ज्ञान स्वयं भगवान् द्वारा या फिर उनके अधिकृत प्रतिनिधि द्वारा दिया जाना चाहिए। इसलिए श्रीकृष्ण कहते हैं कि जब कभी भी भगवान् के इस विज्ञान को समझने में चूक होती है, तो वे स्वयं अवतरित होते हैं।

ज्ञान भावुकता से भी प्राप्त नहीं होता है। भक्ति भावुकता नहीं, एक विज्ञान है। श्रील रूप गोस्वामी कहते हैं, "वैदिक ज्ञान के संदर्भ के बिना अध्यात्मिकता का दिखावा समाज के लिए एक गड़बड़ है।" भक्तिरसामृत का पान तर्क, विवेक तथा ज्ञान के साथ करना चाहिए, और तब उसे दूसरों तक पहुँचाना चाहिए। किसी को यह नहीं सोचना चाहिए कि कृष्णभावनामृत केवल भावुकता है। नृत्य और गान सभी वैज्ञानिक हैं। यह विज्ञान भी है एवं इसमें प्रेम का आदान-प्रदान भी है। कृष्ण बुद्धिमान व्यक्ति को अतिप्रिय हैं और बुद्धिमान व्यक्ति कृष्ण को अतिप्रिय है। कृष्ण हमें प्रेम का हजार गुना बदला देंगे। हम सीमित प्राणियों में कृष्ण को प्रेम करने की कितनी क्षमता है? परन्तु कृष्ण में प्रेम करने की बहुत अधिक क्षमता—असीमित क्षमता—है।•

५

परम प्रभु की ओर गमन

उदाराः सर्व एवैते ज्ञानीत्वात्मैव मे मतम्।
आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम्॥

"ये सभी भक्त निःसंदेह उदार आत्माएँ हैं किन्तु जो मनुष्य मेरे ज्ञान में स्थित है, वह निश्चित ही मेरे में समाया हुआ है। मेरी दिव्य सेवा में लगा होने के कारण वह मुझ तक पहुँच जाता है" (*भगवद्गीता* ७.१८)

यहाँ कृष्ण कह रहे हैं कि दुखी, जिज्ञासु और अर्थार्थी आदि जो भी व्यक्ति उनकी शरण में आते हैं उन सब का स्वागत है, किन्तु उन सब में से जो ज्ञानी है, वह उन्हें बहुत प्रिय है। अन्यों का भी स्वागत है, क्योंकि यह समझा जाता है कि यदि वे ईश्वर के मार्ग पर चलते रहें, तो क्रमशः वे भी ज्ञानी के समान श्रेष्ठ हो जाएँगे। किन्तु प्रायः ऐसा होता है कि जब कोई व्यक्ति किसी लाभ के लिए चर्च में जाता है, और उसे धन नहीं मिलता, तो वह यह निष्कर्ष निकाल लेता है कि ईश्वर की शरण में जाना व्यर्थ है, और वह चर्च से सब सम्बन्ध तोड़ देता है। सकाम भाव से ईश्वर की शरण लेने में यही भय है। उदाहरण के लिए द्वितीय विश्व युद्ध में यह सूचना दी गई थी कि अनेक जर्मन सैनिकों की पत्नियाँ अपने अपने पतियों की सकुशल वापसी की कामना लेकर चर्च में प्रार्थना करने के लिए गईं थी, किन्तु जब उन्हें पता लगा कि उनके पति युद्ध में मारे गये हैं, तो वे सब नास्तिक हो गईं। इस प्रकार हम चाहते हैं कि ईश्वर हमारी आवश्यकता पूर्ति करने वाले बन जायें और जब वे ऐसा

नहीं करते, तो हम कहने लगते हैं, ईश्वर है ही नहीं। भौतिक पदार्थों की प्राप्ति के लिए ईश्वर से प्रार्थना करने का यही प्रभाव है।

इस सम्बन्ध में राजपरिवार के एक पंचवर्षीय छोटे बालक ध्रुव की कथा आती है। ध्रुव के पिता राजा उत्तानपाद ने ध्रुव की माता, अपनी रानी सुमति से विमुख होकर उसे पदच्युत करके एक अन्य स्त्री सुरुचि को रानी बना लिया। अब सुरुचि ध्रुव की सौतेली माँ हो गई। अतः वह ध्रुव से बड़ा द्वेष करने लगी और एक दिन जब ध्रुव अपने पिता की गोद में बैठा हुआ था, तब सुरुचि ने यह कहकर उसका अपमान किया, "अरे, तुम अपने पिता की गोद में नहीं बैठ सकते, क्योंकि तुम मेरे उदर से उत्पन्न नहीं हुए हो।" उसने ध्रुव को राजा की गोद से खींचकर उतार दिया। ध्रुव को इस से बड़ा क्रोध आया। वह एक क्षत्रिय-पुत्र था, और क्षत्रिय लोग अपने आवेश के लिए प्रसिद्ध हैं। ध्रुव को यह बड़ा अपमानजनक लगा, और वह अपनी माँ सुमति के पास पहुँचा, जिसे राजा ने पदच्युत कर दिया था।

ध्रुव ने अपनी माँ से कहा—"प्यारी माँ, मेरी सौतेली माँ ने मुझे पिताजी की गोद से खींच कर मेरा बड़ा अपमान किया है।"

माँ ने उत्तर दिया,"प्रिय वत्स, मैं क्या कर सकती हूँ? तुम्हारे पिता अब मेरी कोई परवाह नहीं करते, मैं स्वयं असहाय हूँ।"

ध्रुव ने पूछा—"ठीक है। तो यह बताइये कि मैं सौतेली माँ से प्रतिशोध कैसे ले सकता हूँ?"

माँ ने उत्तर दिया,"प्रिय वत्स! तुम असहाय हो। यदि ईश्वर तुम्हारी सहायता करें, तभी तुम बदला ले सकते हो।"

ध्रुव ने उत्साहपूर्वक पूछा,"अच्छा, ईश्वर कहाँ है?

माँ ने उत्तर दिया, "मुझे पता लगा है, अनेक ऋषि-मुनि ईश्वर को पाने के लिए जंगल में जाते हैं। वहाँ भगवान् को पाने के लिए वे कठोर तपस्या करते हैं।"

यह सुनकर ध्रुव तुरन्त ही तपोवन को चला गया और वहाँ व्याघ्र और हाथी जैसे वन्य प्राणियों से पूछने लगा, "अरे, क्या तुम ईश्वर हो? क्या तुम ईश्वर हो?" इस प्रकार वह प्रत्येक वन्य प्राणी से प्रश्न करने लगा। ईश्वर के सम्बन्ध में ध्रुव की ऐसी प्रबल जिज्ञासा देखकर भगवान् कृष्ण ने नारद मुनि को स्थिति जानने के लिए वहाँ भेजा। नारद मुनि तुरन्त तपोवन में गये और ध्रुव को ढूँड लिया।

नारदजी ने कहा, "प्रिय वत्स, तुम एक राज परिवार से हो। तुम इस कठोर व्रत और तपस्या का कष्ट नहीं उठा सकते। कृपा करके अपने घर लौट जाओ। तुम्हारे माता पिता तुम्हारे लिए बहुत चिन्तित हैं।"

ध्रुव ने कहा "मुनिवर! कृपया इस प्रकार मेरा ध्यान हटाने का प्रयत्न न कीजिए। यदि आप ईश्वर के विषय में कुछ जानते हैं, या आप कुछ बता सकते हैं कि मैं ईश्वर के दर्शन कैसे कर सकता हूँ, तो बताइये, अन्यथा यहाँ से चले जाइए। और मुझे विचलित न कीजिए।"

जब नारदजी ने देखा कि ध्रुव ईश्वर के दर्शन के लिए इतना दृढ़संकल्प है, तो उन्होंने उसे शिष्य रूप में दीक्षित किया और उसे *"ॐ नमो भगवते वासुदेवाय"* मंत्र दिया। इस मंत्र का जप करके ध्रुव परिपूर्ण हो गया और भगवान् नारायण उसके समक्ष प्रकट हो गये।

भगवान् ने ध्रुव से पूछा, "प्रिय ध्रुव, बोलो तुम क्या चाहते हो? तुम जो कुछ भी चाहते हो, वह मुझसे प्राप्त कर सकते हो।"

ध्रुव ने उत्तर दिया, "हे प्रभो, मैंने केवल अपने पिता के राज्य तथा भूमि के लिए इतना कठोर तप किया है, किन्तु अब तो मुझे आपके दर्शन हो गये हैं। बड़े बड़े ऋषिमुनियों को भी आपके दर्शन दुर्लभ हैं। मुझे तो बहुत बड़ा लाभ हुआ है। मैने कुछ तुच्छ पदार्थों और कांच के टुकड़ों के लिए घर छोड़ा था, किन्तु बदले में मुझे तो एक महा मूल्यवान हीरा प्राप्त हो गया है। अब मैं परम सन्तुष्ट हूँ। अब मुझे आपसे कुछ नहीं माँगना है।

इस प्रकार कोई व्यक्ति निर्धनता या घोर दुख से पीड़ित होने पर भी अगर वह ध्रुव के समान वही दृढ़संकल्प लेकर ईश्वर के दर्शन और वरदान के लिए उनकी शरण में जाता है और यदि उसे ईश्वर के दर्शन हो जाते हैं, तो वह उनसे किसी भौतिक पदार्थ की इच्छा नहीं रखेगा। वह भौतिक पदार्थों के स्वामित्व की मूर्खता को समझने लगता है और वास्तविक पदार्थ की प्राप्ति के लिए भ्रम को एक ओर फेंक देता है। जब कोई व्यक्ति ध्रुव महाराज के समान कृष्णभावनामृत में स्थित हो जाता है, तो वह पूर्णतया सन्तुष्ट होकर किसी वस्तु की कामना नहीं करता।

ज्ञानी पुरुष जानता है कि भौतिक पदार्थ क्षणिक चकाचौंध वाले हैं। वह यह भी जानता है कि सब प्रकार के भौतिक लाभों के साथ तीन प्रकार की उलझने होती हैं—मनुष्य अपने कार्य से कुछ फल चाहता है, अपनी समृद्धि के कारण दूसरों से प्रशंसा चाहता है और अपनी सम्पत्ति के कारण ख्याति चाहता है। वह यह भी जानता है कि ये बातें केवल शरीर पर ही लागू होती हैं। जब शरीर समाप्त हो जाता है, तो ये भी समाप्त हो जाती हैं। जब शरीर मर जाता है, तो कोई भी व्यक्ति धनवान नहीं रहता; वह केवल आत्मा रह जाता है, और अपने कर्मों के अनुसार उसे दूसरे शरीर में प्रवेश करना पड़ता है। गीता कहती है कि ज्ञानी पुरुष इससे मोहित नहीं होता, क्योंकि वह जानता है कि वास्तविकता क्या है। तो फिर भौतिक सम्पत्ति पाने के लिए उसे इतनी चिन्ता क्यों करनी चाहिए? उसकी मनोवृत्ति यह होती है, "मेरा परम भगवान् श्रीकृष्ण से शाश्वत सम्बन्ध है। अब मुझे इस सम्बन्ध को सुदृढ़ बनाना चाहिए, जिससे कृष्ण पुनः मुझे अपने परम धाम में ले जायें।"

ब्रह्मांड की स्थिति हमें पूरी सुविधाएँ प्रदान कर रही है जिससे हम श्रीकृष्ण के साथ यह सम्बन्ध पुनः स्थापित कर सकें और भगवद्धाम वापस लौट सकें। जीवन में यही हमारा लक्ष्य होना चाहिए। हमें जिन-

जिन वस्तुओं की आवश्यकता है—भूमि, अन्न, फल, दूध, गृह, वस्त्र—वे ईश्वर द्वारा प्रदान की जा रही हैं। हमें केवल शान्तिपूर्वक जीवनयापन करते हुए कृष्णभावनाभावित होना है। यही हमारे जीवन का लक्ष्य होना चाहिए। अतः अन्न, वस्त्र, गृह, सुरक्षा और काम-वासना के रूप में ईश्वर ने जो कुछ भी हमें दिया है, उससे हमें सन्तुष्ट रहना चाहिए तथा और अधिक, और अधिक की कामना नहीं करनी चाहिए। वही सभ्यता सर्वश्रेष्ठ है, जो "सादा जीवन उच्च विचार" के सिद्धान्त का पालन करती है। भोजन अथवा कामवासना का किसी कारखाने में निर्माण करना सम्भव नहीं है। ये और जो भी अन्य पदार्थ हमें चाहिए, वे ईश्वर द्वारा उपलब्ध होते हैं। हमारा कार्य तो बस इतना है कि इन पदार्थों से लाभ उठाएँ और ईश्वरभावनाभावित हो जायें।

यद्यपि ईश्वर ने इस पृथ्वी पर शान्तिपूर्वक रहने के लिए, कृष्णभावनामृत में प्रगति करने के लिए और अन्त में उनकी शरण में आने की सब सुविधाएँ हमें प्रदान की हैं, किन्तु इस कलियुग में हम बड़े अभागे हैं। हम अल्पायु हैं, और अनेक लोग भोजन, आवास, विवाहित जीवन और प्रकृति के प्रहारों से सुरक्षा से वंचित हैं। यह स्थिति वर्तमान कलियुग के प्रभाव के कारण है। इसीलिए इस युग की भयावह स्थिति को देखकर चैतन्य महाप्रभु ने आध्यात्मिक जीवन-पद्धति के अनुशीलन की अनिवार्य आवश्यकता पर बल दिया। यह हमें कैसे करना चाहिए? चैतन्य महाप्रभु ने इसका सूत्र बताया है:

हरेर्नाम हरेर्नाम हरेर्नामैव केवलम्।
कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा॥

अर्थात् "केवल हरि का नाम, हरि का नाम, हरि का नाम ही रक्षक है। कलियुग में और कोई गति नहीं है, नहीं है, नहीं है।" इस बात की चिन्ता मत कीजिए कि आप कारखाने में, नरक में, झोंपड़ी में या किसी गगनचुम्बी भवन में हैं। केवल हरे *कृष्ण,* हरे *कृष्ण, कृष्ण कृष्ण,* हरे

हरे। *हरे राम, हरे राम, राम राम, हरे हरे॥* इस महामन्त्र का जप करते रहिए। इसमें न कोई व्यय है, न बाधा, न जाति-बन्धन है, न धर्म-बन्धन है, न वर्ण-भेद है। इसे कोई भी कर सकता है। केवल कीर्तन कीजिए और सुनिये।

सौभाग्य से यदि कोई मनुष्य कृष्णभावनामृत के संपर्क में आता है और किसी प्रामाणिक गुरु के सरंक्षण में इसकी साधना करता है, तो वह निश्चय ही भगवद्धाम लौटेगा।

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः॥

"अनेक जन्मों के उपरान्त कोई ज्ञानी वस्तुतः यह जानते हुए मेरी शरण लेता है कि मैं ही सब कारणों का कारण हूँ। ऐसा मानने वाला महात्मा बहुत ही दुर्लभ है।" (*भगवद्गीता* ७.१९)

ईश्वर-विज्ञान के लिए दार्शनिक खोज अनेक जन्मों तक करनी होती है। ईश्वरानुभूति बहुत सरल है किन्तु साथ ही साथ बहुत कठिन भी है। जो व्यक्ति कृष्ण के वचनों को सत्य के रूप में स्वीकार कर लेते हैं, उनके लिए तो यह अनुभूति बहुत सरल है, किन्तु जो लोग अपनी दार्शनिक या ज्ञान की प्रगति के बल पर खोज करने की कोशिश करते हैं, उन्हें अपना विश्वास पैदा करने के लिए इस खोज की क्रमिक अवस्थाओं में से गुजरना पड़ता है और यह प्रक्रिया कई जन्मों का समय ले लेती है। अध्यात्मवादी भिन्न भिन्न प्रकार के होते हैं, जो तत्त्ववित् कहलाते हैं, अर्थात् परम सत्य को जानने वाले। अध्यात्मवादी परम सत्य उसे कहते हैं, जिस में कोई द्वैत नहीं होता। परम सत्य में कोई विभिन्नता नहीं होती। परम सत्य में प्रत्येक वस्तु एक ही स्तर पर स्थित है। जो इस सत्य को सही ढंग से जानता है, वही *तत्त्ववित्* कहलाता है।

श्रीकृष्ण कहते हैं कि परम सत्य का साक्षात्कार तीन रूपों में होता है—ब्रह्म, परमात्मा और भगवान्—निर्विशेष ब्रह्म ज्योति, स्थानिक

परमात्मा व पूर्ण पुरुषोत्तम परमेश्वर। इस प्रकार ये तीन दृष्टिकोण हैं जिनसे परम सत्य का साक्षात्कार किया जा सकता है। कोई व्यक्ति एक पहाड़ को बहुत दूर से देखकर एक दृष्टिकोण से इसका अनुभव कर सकता है। जैसे ही वह निकट आता है, वह पहाड़ के लता, वृक्ष और पर्णसमूह को भी देख सकता है, और यदि वह पहाड़ पर चढ़ने लगता है, तो उसे वहाँ वृक्षों, पौधों और पशुओं के रूप में बहुत विविधता का पता चलेगा। लक्ष्य एक ही है, किन्तु दृष्टिकोणों की भिन्नता के कारण ऋषियों द्वारा परम सत्य की भिन्न-भिन्न संकल्पनाएँ की गई हैं। एक दूसरा उदाहरण लीजिए—सूर्य प्रकाश है, सूर्य-ग्रह है, और सूर्य देवता है। जो व्यक्ति सूर्यप्रकाश में है वह यह दावा नहीं कर सकता कि वह स्वयं सूर्य पर है और जो व्यक्ति सूर्य ग्रह पर है, वह देखने के दृष्टिकोण से अच्छी स्थिति में है। सूर्यप्रकाश की तुलना हम सर्वव्यापिनी ब्रह्मज्योति से कर सकते हैं। स्थानीय सूर्य-ग्रह की तुलना परमात्मा के स्थानीय रूप से की जा सकती है, और सूर्य देवता, जो सूर्य-ग्रह में निवास करते हैं, उनकी तुलना भगवान् से की जा सकती है। जैसे इस पृथ्वी ग्रह पर जीवों की अनेक श्रेणियाँ हैं; हम वैदिक साहित्य से समझ सकते हैं कि सूर्य में भी जीवों की विभिन्न श्रेणियाँ हैं, किन्तु उनके शरीर अग्निमय हैं, ठीक वैसे ही जैसे हमारे शरीर पृथ्वी से बने हैं।

भौतिक प्रकृति में पाँच स्थूल तत्त्व हैं—पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि और आकाश। भिन्न भिन्न ग्रहों में इन पाँच तत्त्वों में से किसी एक की प्रधानता के कारण भिन्न-भिन्न वातावरण हैं, और उनमें जीवों के भिन्न-भिन्न शरीर हैं, जो इस बात पर निर्भर हैं कि किसी ग्रह में कौन से तत्त्व की प्रधानता है। हमें यह नहीं सोचना चाहिए कि सभी ग्रहों में एक ही प्रकार का जीवन है। तथापि इस अर्थ में इसमें समानता है कि ये पाँच तत्त्व किसी न किसी रूप में वहाँ विद्यमान हैं। इस प्रकार किसी ग्रह में पृथ्वी तत्त्व की प्रधानता है, किसी में अग्नि तत्त्व की, किसी में जल

तत्त्व की, किसी में वायु तत्त्व की और किसी में आकाश तत्त्व की प्रधानता है। इसलिए हमें यह नहीं सोचना चाहिए कि चूँकि कोई ग्रह मुख्यतया पृथ्वी तत्त्व से निर्मित नहीं है, और चूँकि उस ग्रह का वातावरण हमारे ग्रह जैसा नहीं है, तो वहाँ जीवन ही नहीं है। वैदिक साहित्य हमें बताते है कि ब्रह्माण्ड में भिन्न-भिन्न शरीर वाले जीवों से भरे हुए असंख्य ग्रह हैं। जिस प्रकार कुछ भौतिक समन्वय करके हम भिन्न-भिन्न भौतिक ग्रहों में प्रवेश करने की क्षमता प्राप्त कर सकते हैं उसी प्रकार हम इस क्षमता के द्वारा भगवद्धाम में भी प्रवेश कर सकते हैं जहाँ परम प्रभु निवास करते हैं।

यान्ति देवव्रता देवान् पितॄन यान्ति पितृव्रताः।
भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम्॥

"जो लोग देवताओं को पूजते हैं, वे देवलोक में जाते हैं, अर्थात् देवताओं में जन्म लेते हैं; जो लोग पितरों को पूजते हैं, वे पितरों को प्राप्त होते हैं; जो लोग भूतों को पूजते हैं, वे भूतों को प्राप्त होते हैं, और मेरे उपासक (भक्त) मुझे ही प्राप्त होते हैं।" (*भगवद्गीता* ९.२५)

जो लोग उच्चतर ग्रहों में प्रवेश करने का प्रयत्न कर रहे हैं, वे उनमें जा सकते हैं और जो लोग कृष्ण के ग्रह, गोलोक वृन्दावन में प्रवेश करने का प्रयत्न कर रहे हैं, वे भी कृष्णभावनामृत की प्रक्रिया से ऐसा कर सकते हैं। भारत जाने से पूर्व हमें उसका वर्णन प्राप्त कर लेना चाहिए कि वह देश कैसा है, क्योंकि किसी स्थान के विषय में सुनना, वही उसका प्रथम अनुभव है। इसी प्रकार यदि हमें उस ग्रह का परिचय पाना है, जहाँ भगवान् का निवास है, तो हमें पहले उसके विषय में सुनना होगा। हम तत्काल कोई प्रयोग करके वहाँ नहीं पहुँच सकते। यह संभव नहीं है। किन्तु हमें वैदिक साहित्य में उस दिव्यलोक के अनेक विवरण मिलते हैं। उदाहरणार्थ *ब्रह्म-संहिता* कहती है:

चिन्तामणिप्रकर सद्मसु कल्पवृक्ष-
लक्षावृतेषु सुरभीरभिपालयन्तम्।
लक्ष्मी-सहस्रशत-सम्भ्रम-सेव्यमानम्
गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥

"मैं उन आदि पुरुष गोविन्द भगवान् को भजता हूँ, जो लाखों कल्पवृक्षों से घिरे दिव्य चिन्तामणि समूहों से बने भवनों में लाखों लक्ष्मियों या गोपियों से सादर सप्रेम सेवित हैं और जो कामधेनु गौवों को चराते हैं।" इसी प्रकार भगवद्धाम के और भी विस्तृत वर्णन हैं। *ब्रह्म-संहिता* में इनका विशेष रूप से स्पष्ट उल्लेख है।

जो जिज्ञासु परम सत्य की अनुभूति करने का प्रयत्न कर रहे हैं, उन्हें परम सत्य के विभिन्न पक्षों पर मन को केन्द्रित करने के आधार पर वर्गीकृत किया जाता है। जो निराकार ब्रह्म को केन्द्र मानकर साधना करते हैं, वे *ब्रह्मवादी* कहलाते हैं। साधारणतया जो लोग परम सत्य की अनुभूति करने का प्रयत्न करते हैं, वे सर्वप्रथम ब्रह्मज्योति का अनुभव करते हैं। जो लोग हृदय में स्थित ईश्वर अर्थात् परमात्मा की अनुभूति पर ध्यान केन्द्रित करते हैं, वे *परमात्मावादी* कहलाते हैं। परम प्रभु अपने पूर्ण अंश के द्वारा प्रत्येक प्राणी के हृदय में स्थित हैं और ध्यान एवं धारणा द्वारा मनुष्य इस रूप का अनुभव कर सकता है। वे न केवल प्रत्येक प्राणी के हृदय में स्थित हैं अपितु सृष्टि के प्रत्येक परमाणु में भी व्याप्त हैं। यह परमात्मा का साक्षात्कार दूसरा स्तर है। तृतीय और अन्तिम स्तर है साक्षात् पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् की अनुभूति। इस अनुभूति के तीन प्रमुख स्तर हैं; अतः सर्वोच्च परम सत्य की अनुभूति एक जन्म में नहीं हो पाती। इसलिए कहा गया है—*बहूनां जन्मनाम् अन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।* यदि कोई सौभाग्यशाली हो, तो परम सत्य के दर्शन एक क्षण में ही पा सकता है। किन्तु साधारणतया ईश्वर-तत्त्व का रहस्य जानने में अनेक वर्ष और अनेक जन्म लग जाते हैं।

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भाव समन्विताः॥

"मैं ही समस्त आध्यात्मिक और भौतिक जगत की उत्पत्ति का कारण हूँ। मुझसे ही समस्त जगत उद्भूत होता है। जो ज्ञानी पुरुष यह बात अच्छी तरह जानता है, वह मेरी भक्ति में लग जाता है और सच्चे हृदय से मुझे भजता है।" (*भगवद्गीता* १०.८)

वेदान्त सूत्र भी पुष्टि करता है कि परम सत्य वही है, जिससे सबका उद्भव हुआ है। यदि हम वस्तुतः मानने लगें कि कृष्ण ही सबके उद्गम हैं, और हम उनकी आराधना करें तो हमारे समस्त कर्मों का खाता एक क्षण में ही बन्द हो जाये। किन्तु यदि कोई व्यक्ति ऐसा विश्वास न करके यह कहे कि, "अरे, मैं देखना चाहता हूँ कि ईश्वर क्या है" तो उसे परम सत्य के साक्षात्कार के क्रमिक सोपानों से गुजरना पड़ेगा। पहले निर्विशेष ब्रह्मज्योति की अनुभूति, फिर स्थानीय परमात्मा की अनुभूति और अन्त में भगवान् का साक्षात्कार, "आह!" ये रहे पूर्ण पुरुषोत्तम परमेश्वर यहाँ।" किन्तु हमें यह समझ लेना चाहिए कि इस प्रक्रिया में बहुत समय लगता है। जब अनेक वर्षों की खोज के उपरान्त साधक को परम सत्य की अनुभूति हो जाती है, तो वह इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि, *"वासुदेवः सर्वम् इति"* "वासुदव ही सब कुछ हैं।" वासुदेव कृष्ण का एक नाम है, और इसका अर्थ है, वे प्रभु जो सर्वत्र व्याप्त हैं। वासुदेव ही सबका मूल हैं, यह अनुभव करके मनुष्य प्रभु की शरण में जाता है—*'मां प्रपद्यते।'* शरणागति ही चरम लक्ष्य है। चाहे इसे कोई तुरन्त ऐसा करे अर्थात् शरणागत हों, या अनेक जन्मों की शोध के उपरान्त। दोनों ही स्थितियों में यह अनुभव करके शरणागति होनी आवश्यक है कि, "प्रभु महान् हैं और मैं उनका तुच्छ सेवक हूँ।"

इस रहस्य को जानकर बुद्धिमान पुरुष तुरन्त ही कृष्ण की शरण ले लेता है और अनेक जन्म लेने के लिए प्रतीक्षा नहीं करता। वह समझ

लेता है कि यह रहस्य प्रभु ने जीवों पर अपनी अनन्त कृपा के कारण ही प्रकट किया है। हम सभी भौतिक जगत के त्रिविध तापों को भोग रहे बद्धजीव हैं। अब प्रभु अपनी शरणागति की प्रक्रिया द्वारा हमें इन त्रिविध तापों से मुक्त होने का सुअवसर दे रहे हैं।

यहाँ कोई जिज्ञासु यह पूछ सकता है कि जब परम प्रभु का व्यक्तित्व ही मनुष्य का चरमलक्ष्य है और मनुष्य को प्रभु की शरण में जाना ही पड़ेगा, तो इस संसार में उपासना की इतनी सारी पद्धतियाँ क्यों हैं? इस प्रश्न का उत्तर अगले श्लोक में दिया गया है—

कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञाना प्रपद्यन्तेऽन्य देवता।
तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियता स्वया॥

"अनेक भौतिक भोगों की कामनाओं द्वारा जिनका ज्ञान नष्ट हो गया है, ऐसे लोग अपनी अपनी प्रकृति से प्रेरित होकर उपासना के विशेष नियमों का पालन करते हुऐ अन्य देवताओं की शरण लेते हैं।" (*भगवद्गीता* ७.२०)

इस संसार में विविध प्रकार के अनेक लोग हैं और वे भौतिक प्रकृति के अलग अलग गुणों के अधीन होकर कर्म करते रहते हैं। साधारणतया अधिकतर लोग मुक्ति के लिए प्रयत्नशील नहीं होते। यदि वे अध्यात्म की ओर उन्मुख होते भी हैं, तो वे अपनी आध्यात्मिक शक्ति से कुछ प्राप्त करना चाहते हैं। भारतवर्ष में यह कोई असाधारण बात नहीं है कि कोई व्यक्ति किसी स्वामी के पास जाकर कहे कि, "स्वामी जी, मैं अमुक रोग से पीड़ित हूँ। क्या आप मुझे कोई औषधि दे सकते हैं?" वह सोचता है कि एक डॉक्टर तो बहुत महँगा पड़ता है, तो वह एक स्वामी के पास क्यों न जाये, जो चमत्कार कर सकते हैं। भारत में ऐसे स्वामी भी हैं जो लोगों के घर जाते हैं और कहते हैं यदि आप मुझे एक तोला सोना दें तो मैं उसे एक सौ तोले बना सकता हूँ। लोग सोचते हैं "हमारे पास पाँच तोला सोना है। क्यों न हम इसे स्वामी जी को देकर

पाँच सौ तोले बनवालें।" इस प्रकार स्वामी गाँव भर का सारा सोना बटोर कर गायब हो जाता है। यही हमारी बीमारी है; जब हम किसी स्वामी के पास या मन्दिर, मस्जिद, चर्च में जाते हैं, तो हमारे हृदय किसी न किसी भौतिक कामनाओं से भरे होते हैं। आध्यात्मिक जीवन से भी कुछ न कुछ भौतिक लाभ चाहते हुए हम स्वास्थ्य को ठीक रखने के लिए योगाभ्यास करते हैं, किन्तु स्वस्थ रहने के लिए योग की शरण लेने की क्या जरूरत है? स्वस्थ तो हम नियमित व्यायाम और संयमित आहार से भी रह सकते हैं। फिर योग का आश्रय क्यों लेते हैं? क्योंकि, *कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञाना*। इसलिए कि हम में स्वयं को स्वस्थ रखने व जीवन में आनन्द की कामना है और यह हम चर्च जाकर भगवान् को हमारे भोगों की पूर्ति के माध्यम (आर्डर सप्लायर) बना कर पाना चाहते हैं।

भौतिक कामनाओं की पूर्ति के लिए मनुष्य विभिन्न देवताओं की उपासना करता है। वे भौतिक पदार्थ से बाहर निकलने का कोई ज्ञान ही नहीं रखते। वे तो इस भौतिक जगत का अधिक से अधिक उपभोग करना चाहते हैं। उदाहरणार्थ, वैदिक साहित्य में अनेक उपाय बताये गये हैं: यदि किसी को अपने किसी रोग से छुटकारा पाना है, तो उसे सूर्य की उपासना करनी चाहिए। यदि किसी कन्या को उत्तम वर चाहिए, तो उसे शिवजी की उपासना करनी चाहिए। यदि किसी को सौंदर्य चाहिए तो वह अमुक देवता को पूजता है और किसी को विद्या की कामना है तो वह देवी सरस्वती की उपासना करता है। इस प्रकार पाश्चात्य लोग प्रायः सोचते हैं कि हिन्दू लोग बहुदेव-पूजक हैं, किन्तु वास्तव में यह पूजा ईश्वर की नहीं, अपितु देवताओं की है। हमें यह नहीं सोचना चाहिए कि देवगण भगवान् हैं। ईश्वर तो एक ही हैं, किन्तु देवता बहुत हैं जो हमारी भांति जीव ही हैं। अन्तर केवल यह है कि उनमें हमारी अपेक्षा बहुत अधिक शक्ति है। इस पृथ्वी पर कोई राजा हो, या राष्ट्रपति, या तानाशाह—ये सब हमारी भाँति मनुष्य ही हैं, किन्तु उनमें कुछ

असाधारण शक्ति होती है, और उनकी कृपा प्राप्त करने के लिए, उनकी शक्ति का लाभ उठाने के लिए, हम किसी न किसी प्रकार उनकी पूजा करते हैं। किन्तु *भगवद्गीता* देवताओं की पूजा के पक्ष में नहीं है। इस श्लोक में स्पष्ट कहा गया है कि लोग काम अर्थात् भौतिक कामनाओं के लिए देवताओं की पूजा करते हैं।

यह भौतिक जीवन केवल काम पर आधारित है। हम इस भौतिक संसार का सुख भोगना चाहते हैं, और हम इसे प्रेम करते हैं, क्योंकि हम अपनी इन्द्रियों को तृप्त करना चाहते हैं। हमारी यह काम-भावना ईश्वर के प्रति हमारे प्रेम का विकृत प्रतिबिम्ब है। अपने मूल स्वरूप में हमारा निर्माण ईश्वर से प्रेम करने के लिए हुआ है, किन्तु चूँकि हम भगवान् को भूल गये हैं, इसलिए हम भौतिक पदार्थ को प्यार करने लगे हैं। किन्तु प्रेम तो यहाँ भी विद्यमान है ही। या तो हम भौतिक पदार्थ से प्रेम करते हैं या भगवान् से। किन्तु किसी भी स्थिति में हम प्रेम करने की इस सहज प्रवृत्ति से बाहर नहीं जा सकते। निस्सन्देह, प्राय: हम देखते हैं कि जिस व्यक्ति के बच्चे नहीं होते, वह बिल्ली या कुत्ते से प्रेम करने लगता है। क्यों? क्योंकि हम किसी न किसी से प्रेम करना चाहते हैं, हमें इसकी अनिवार्य आवश्यकता है। वास्तविकता के अभाव में हम अपना प्रेम और विश्वास कुत्तों और बिल्लियों में लगा देते हैं। प्रेम सदैव विद्यमान है, किन्तु वह काम के रूप में विकृत हो जाता है। जब यह काम अपूर्ण या अतृप्त रह जाता है, तो हम क्रुद्ध हो जाते हैं, क्रोध से संमोह होता है और संमोहित होने पर हमारा नाश हो जाता है। यही चक्र चलता रहता है, किन्तु हमें इस प्रक्रिया दिशा उल्टी करनी होगी और काम को प्रेम में परिवर्तित करना होगा। यदि हम ईश्वर से प्रेम करते हैं, तो हम प्रत्येक वस्तु से प्रेम करते हैं। किन्तु यदि हम ईश्वर से प्रेम नहीं करते, तो किसी से भी प्रेम करना सम्भव नहीं है। हम सोच सकते हैं कि यह प्रेम है, किन्तु वह होता है केवल चमकता हुआ काम ही। जो

लोग काम के पीछे कुत्तों जैसे पागल हो गये हैं, उनके लिए कहा जाता है कि उनकी सारी सद्वृत्तियाँ मारी गई हैं। ऐसे ही लोगों के लिए गीता में *कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञाना:* कहा गया है।

शास्त्रों में देवताओं की पूजा के बहुत से विधिविधान हैं। कोई व्यक्ति यह प्रश्न कर सकता है कि वैदिक साहित्य में उनकी पूजा की संस्तुति क्यों की गई है। इसकी आवश्यकता है। जो लोग काम-प्रेरित हैं, वे किसी न किसी से प्रेम करने का सुअवसर चाहते हैं, और देवता लोग भगवान् के अधिकारी-सेवक माने गये हैं। इसका उद्देश्य यह है कि कोई व्यक्ति इन देवताओं की उपासना करते हुए धीरे धीरे स्वयं में कृष्णभावनामृत का विकास कर लेगा। किन्तु यदि काई व्यक्ति किसी भी सत्ता के प्रति *पूर्णतया* नास्तिक, उद्दण्ड और विद्रोही है, तो उससे क्या आशा की जा सकती है ? अत: किसी व्यक्ति की किसी उच्चतर सत्ता के प्रति आस्था का आरम्भ देवताओं की आराधना से हो सकता है।

किन्तु यदि हम सीधे परम प्रभु कृष्ण की उपासना करें, तो देवताओं की आराधना की कोई आवश्यकता नहीं है। जो लोग सीधे परम प्रभु की उपासना करते हैं, वे देवताओं के प्रति पूरा सम्मान का भाव रखते हैं, किन्तु उन्हें देवताओं की आराधना करने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि वे जानते हैं कि देवताओं के पीछे सर्वोच्च अधिकारी सर्वशक्तिमान परम प्रभु भगवान् कृष्ण ही हैं; और वे उनकी उपासना में लग जाते हैं। प्रत्येक स्थिति में आस्था और सम्मान भाव तो रहता ही है। कृष्ण का भक्त तो चींटी का भी आदर करता है, फिर देवताओं के लिए तो कहना ही क्या है ? भक्त जानता है कि प्रत्येक जीव भगवान् का ही अंश है और वह भिन्न-भिन्न भूमिकाएँ निभा रहा है।

प्रभु के सम्बन्ध के दृष्टिकोण से सभी प्राणी सम्मान के पात्र हैं। इसलिए भक्त दूसरों को 'प्रभु' कहकर सम्बोधित करता है। 'प्रभु' का मतलब है, "मेरे प्रिय स्वामी।" नम्रता प्रभु के भक्त की एक विशेषता

है। भक्त दयालु और आज्ञाकारी होते हैं और उनमें सभी सद्गुण होते हैं। सारांश यह है कि यदि कोई व्यक्ति भगवान् का भक्त बन जाता है, तो उसमें समस्त सद्गुण स्वतः विकसित हो जाएँगे। जीव अपने मूल स्वरूप में पूर्ण है, किन्तु काम-दोष से वह दूषित हो जाता है। सोने का छोटे से छोटा खण्ड भी सोना ही होता है। इसी प्रकार पूर्ण ब्रह्म का अंश जीव भी पूर्ण ही होता है।

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥

"भगवान् पूर्ण हैं। वे परिपूर्ण हैं अतः उनसे उद्भूत चीजें और यह दृश्यमान जगत भी सब प्रकार से पूर्ण हैं। जो परम पूर्ण से उत्पन्न होता है, वह भी स्वयं में पूर्ण होता है। उस पूर्ण से अनेक पूर्ण इकाइयाँ उत्पन्न होने पर भी वे पूर्ण ही शेष रहते हैं।" (श्रीईशोपनिषद्, मंगलाचरण)

भौतिक पदार्थ के संग-दोष से प्रभु का पूर्णांश रूप यह जीव अधःपतित हो जाता है, किन्तु कृष्णभावनामृत की इस प्रक्रिया से वह पुनः पूर्णत्व को प्राप्त कर लेगा। इस भावना से वह वास्तव में सुखी हो सकता है और इस भौतिक शरीर को छोड़ने के पश्चात् उस परम धाम में प्रवेश करता है जहाँ शाश्वत जीवन, पूर्ण आनन्द और पूर्ण ज्ञान हैं।•

हम सभी सुख की खोज में हैं, परन्तु वास्तविक सुख क्या है इस बात को हम नहीं जानते। सुख का विज्ञापन तो हमें बहुत देखने मिलता है, परन्तु जो सुखी हुए हैं ऐसे गिनेचुने ही लोग हम देख पाते हैं। ऐसा इसलिए होता है क्योंकि, यह बात बहुत कम लोग जानते हैं कि, वास्तविक सुख का स्तर क्षणभंगुर वस्तुओं के परे है। यही वह वास्तविक सुख है, जिसका वर्णन ‘कृष्ण की ओर’ में किया गया है।



हम सभी सुख की खोज में हैं, परन्तु वास्तविक सुख क्या है इस बात को हम नहीं जानते। सुख का विज्ञापन तो हमें बहुत देखने मिलता है, परन्तु जो सुखी हुए हैं ऐसे गिनेचुने ही लोग हम देख पाते हैं। ऐसा इसलिए होता है क्योंकि, यह बात बहुत कम लोग जानते हैं कि, वास्तविक सुख का स्तर क्षणभंगुर वस्तुओं के परे है। यही वह वास्तविक सुख है, जिसका वर्णन 'कृष्ण की ओर' में किया गया है।

ISBN 978-93-82716-50-1



